**अध्याय–5**

# नव–उपनिवेशवाद

## अध्याय का ढ़ांचा

5.1 प्रस्तावना

5.1.1 अध्याय के उद्देश्य

5.2 नव–उपनिवेशवाद का अर्थ

5.3 नव–उपनिवेशवाद के प्रकार

5.3.1 आर्थिक रूप से पराश्रित देश

5.3.2 पिछलग्गू देश या उपग्रह उपनिवेश

5.4 नव–उपनिवेशवाद के कारण

5.4.1 उपनिवेशों में राजनीतिक चेतना का उदय

5.4.2 यूरोपीय ताकतों का कमजोर होना

5.4.3 नवोदित स्वतन्त्र राष्ट्रों की आर्थिक मजबूरियां

5.4.4 साम्राज्यवादी ताकतों की मजबूरियां

5.4.5 विकसित राष्ट्रों की आर्थिक नीतियां

5.5 नव–उपनिवेशवाद के साधन

5.5.1 बहुराष्ट्रीय निगम

5.5.2 विदेशी सहायता तथा साम्राज्यवादी कर्ज

5.5.3 हथियारों की पूर्ति

5.5.4 अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक संस्थाएं

5.5.5 आश्रित या उपग्रही–राज्य

5.6 सारांश

5.7 प्रश्नावली

5.8 पाठन सामग्री

### 5.1 प्रस्तावना

यूरोप के देशों ने एक लम्बे समय एशिया और अफ्रीका के देशों पर अपना साम्राज्यवादी जाल फेंकन उनका राजनीतिक व आर्थिक शोषण किया लेकिन उन देशों में उभरने वाले स्वतन्त्रता आन्दोलनों ने साम्राज्यवादी देशों के

मनसूबों पर पानी फेर दिया। धीरे–धीरे एशिया और अफ्रीका के देश एक–एक करके साम्राज्यवादी चुंगल से मुक्ति पाने लगे। अब साम्राज्यवादी शक्तियों को अपने दिन लदते नजर आए तो उन्होंने औपनिवेशिक शोषण के नए–नए तरीके तलाशने शुरू कर दिए। उन्होंने इस प्रक्रिया में उन देशों पर अपना वर्चस्व बनाए रखने के लिए आर्थिक साम्राज्यवाद का सहारा लिया। स्वतन्त्र होने के बाद नवोदित राष्ट्र इस स्थिति में नहीं रहे कि वे अपना स्वतन्त्र आर्थिक विकास कर सकें। उनके आर्थिक विकास में सहायता के नाम पर विकसित साम्राज्यवादी देशों ने डॉलर की कूटनीति का प्रयोग करके उनकी अर्थव्यवस्थाओं पर अपना नियंत्रण स्थापित कर लिया और धीरे–धीरे वे नए साम्राज्यवाद के जाल में इस कदर फंस गए कि आज तक भी वे विकसित देशों के ही पराधीन हैं। इस व्यवस्था को नव–उपनिवेशवाद के नाम से जाना जाता है।

### 5.1.1 अध्याय के उद्देश्य

इस अध्याय का मूल उद्देश्य नव–उपनिवेशवाद की अवधारणा से अवगत कराना है। इसके साथ–साथ यह भी स्पष्ट कराना है कि उपनिवेशवाद को बढ़ाना किन कारकों के कारण मिलता है। नव–उपनिवेशवाद के तरीको का भी विस्तृत वर्णन किया गया है। उपरोक्त स्थिति से विद्यार्थियों को उन नवीन प्रवृत्तियों का बौध कराना है जो आर्थिक शोषण के माध्यम से गरीब, विकासशील राष्ट्रों की स्थिति को कमजोर बनाती है। अतः नव–उपनिवेशवाद की समग्र स्थिति से अवगत करा कर वर्तमान वैश्वीकरण की परिस्थिति में इसकी भूमिका दर्शाना है।

### 5.2 नव–उपनिवेशवाद का अर्थ

यह एक नई अवधारणा है। इसका प्रयोग नए प्रकार के साम्राज्यवाद के लिए किया जाता है। इसे डॉलर साम्राज्यवाद, आर्थिक साम्राज्यवाद, नया–साम्राज्यवाद आदि नामों से भी जाना जाता है। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद अधिकतर पराधीन राष्ट्र राजनीतिक रूप से तो स्वतन्त्र हो गए लेकिन फिर भी अप्रत्यक्ष रूप से किसी न किसी तरह साम्राज्यवाद का शिकार बने रहे। उनकी यह स्थिति आधुनिक साम्राज्यवाद या नव–उपनिवेशवाद कहलाती है। यह एक ऐसी व्यवस्था है जो एक शक्तिशाली विकसित राष्ट्र या अपेक्षाकृत कम शक्तिशाली राष्ट्र का सम्बन्ध एक आर्थिक या उपग्रह उपनिवेश को दर्शाती है। बहुराष्ट्रीय निगम इसके प्रमुख साधन हैं। इनका उद्देश्य आर्थिक रूप से पराधीन या उपग्रह उपनिवेश का अधिक से अधिक शोषण करके उस पर अपना वर्चस्व बनाए रखना है।

"आर्थिक साम्राज्यवाद या नव–उपनिवेशवाद से तात्पर्य ऐसे नियंत्रण से है जिसमें कोई देश प्रत्यक्ष रूप से साम्राज्यवादी शक्तियों से मुक्त प्रतीत होने पर भी परोक्ष रूप से उनके निर्देशों का पालन करने पर बाध्य होता है।"

राष्ट्रपति सुकार्नो ने बाण्डुंग सम्मेलन में 1955 में कहा था कि "राष्ट्र के अन्दर छोटे से विदेशी समुदाय द्वारा आर्थिक नियंत्रण, बौद्धिक नियंत्रण तथा वास्तविक भौतिक नियंत्रण के रूप में यह एक नए लिबास में उपनिवेशवाद है।" उसका स्पष्ट इशारा बहुराष्ट्रीय निगमों की बढ़ती भूमिका की तरफ था। आज विकसित देश अपना साम्राज्यवादी शिकंजा कसने के लिए इनका सहारा ले रहे हैं। इसके द्वारा निर्धन देशों के कच्चे माल पर नियंत्रण पूंजी निर्यात व आसान विनिमय दरों के नाम पर दीमक की तरह घुसकर किया जा रहा है ताकि वे देश कच्चे माल की पूर्ति तथा तैयार माल की बिक्री का केन्द्र बन जाए।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि नव–उपनिवेशवाद साम्राज्यवादी नियंत्रण की ऐसी प्रक्रिया है जिसका प्रयोग विकसित राष्ट्र नवोदित अल्प विकसित राष्ट्रों का आर्थिक शोषण करने के लिए करते हैं। ये राष्ट्र राजनीतिक रूप से तो स्वतन्त्र होते हैं, लेकिन आर्थिक सहायता, सैनिक सहायता, शस्त्रों की सहायता, तकनीकी ज्ञान, उत्पादन के क्षेत्र में विकसित देशों के ऊपर ही आश्रित होते हैं। इनकी विकसित देशों पर निर्भरता इतनी अधिक बढ़ जाती है कि ये अप्रत्यक्ष रूप से राजनीतिक रूप से भी स्वतन्त्र नहीं रह जाते।

## 5.3 नव–उपनिवेशवाद के प्रकार

आर्गेन्सकी ने उपनिवेशवाद के तीन रूपों – राजनीतिक उपनिवेशवाद, आर्थिक दृष्टि से पराधीन देश तथा पिछलग्गू देश का वर्णन किया है। आधुनिक युग में राजनीतिक दृष्टि से तो सभी देश स्वतन्त्र हो चुके हैं। इसलिए इसका कोई महत्व नहीं रह गया है। वह अन्तिम दो को ही नव–उपनिवेशवाद के अंतर्गत शामिल करता है।

### 5.3.1 आर्थिक रूप से पराश्रित देश

ये देश राजनीतिक रूप से तो स्वतन्त्र होते हैं लेकिन आर्थिक सहायता के लिए विकसित राष्ट्रों की ओर देखते हैं। इन देशों में आर्थिक पिछड़ापन पाया जाता है। लोगों की निर्धनता व अस्थिर राजनीतिक व्यवस्थाएं इसके सूचक हैं। लोगों की व्यक्तिगत आय व राष्ट्रीय आय नाम मात्र की होती है। एशिया व अफ्रीका के नवोदित स्वतन्त्र राष्ट्र इस श्रेणी में शामिल हुए। लम्बे समय तक आर्थिक विकास के लिए उन्हें विदेशी सहायता पर निर्भर हुए। उनमें से अधिकतर आज भी आर्थिक रूप से पराधीन राष्ट्रों की श्रेणी में आते हैं। विकसित देशों ने इन देशों में अधिक से अधिक पूंजी लगाकर इनमें अपनी उत्पादन अध्यायया स्थापित कर रखी हैं। कई देशों में तो यह निवेश 80 प्रतिशत तक है। ये देश पराश्रित राष्ट्रों के राजनीतिक जीवन को भी प्रभावित करने की क्षमता रखते हैं। ऐसे देशों को आर्थिक पराश्रित, उपनिवेश कहा जाता है। अमेरिका द्वारा पाकिस्तान, थाईलैंड, घाना आदि एशिया व अफ्रीका के देशों में डॉलर साम्राज्यवाद की नीति का प्रसार इस प्रकार के उपनिवेशवाद का ही एक हिस्सा है।

### 5.3.2 पिछलग्गू देश या उपग्रह उपनिवेश

यह एक ऐसा राष्ट्र होता है जो औपचारिक रूप से तो स्वतन्त्र होता है लेकिन राजनीतिक व आर्थिक दृष्टि से किसी विदेशी शक्ति के अधीन होता है। वे देश स्वतन्त्र विदेश नीति का पालन करने में सक्षम नहीं होते। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद अनेक देशों में सोवियत संघ के नियंत्रण वाली साम्यवादी सरकारें स्थापित हुई। वे सभी देश पिछलग्गू देश या उपग्रह उपनिवेश की श्रेणी में आते थे। आज अफगानिस्तान में अमेरिका समर्थित सरकार है। इसलिए अफगानिस्तान अमेरिका का पिछलग्गू देश है। आवश्यकता पड़ने पर पिछलग्गू देशों को अनेक आकाओं द्वारा सैनिक सहायता भी उपलब्ध कराई जाती है। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद दोनों महाशक्तियों ने अपने पिछलग्गू देशों की हर प्रकार से मदद की थी। आर्थिक रूप से पराश्रित देशों की तुलना में इन उपनिवेशों की स्थिति अधिक खराब होती है।

## 5.4 नव–उपनिवेशवाद के कारक

द्वितीय विश्वयुद्ध तक पहुंचते–पहुंचते साम्राज्यवादी शक्तियाँ इतना अधिक कमजोर हो गई कि वे पराधीन राष्ट्रों पर अपना साम्राज्यवादी नियंत्रण बनाए रखने में अयोग्य सिद्ध होने लगे। साथ में पराधीन देशों में निरन्तर उभर रही राजनीतिक चेतना के परिणामस्वरूप उभरे–स्वतन्त्रता आन्दोलन ने भी साम्राज्यवादी शक्तियों को बहुत हानि पहुंचाई। दो विश्व युद्धों ने साम्राज्यवादी देशों की अर्थव्यवस्थाओं को भारी नुकसान पहुंचाया। वे अब इस स्थिति में नहीं रहे कि आन्दोलनकारी ताकतों से लोहा ले सकें। इसलिए उन्होंने अपना साम्राज्यवादी नियंत्रण ढीला कर दिया और उपनिवेशी शासन का अन्त होने लगा। लेकिन इसके बाद एक नए प्रकार के साम्राज्यवाद का जन्म हुआ जिसे नव–उपनिवेशवाद या आर्थिक साम्राज्यवाद के नाम से जाना जाता है। यह विकसित साम्राज्यवादी देशों द्वारा अपनी खण्डित अर्थव्यवस्थाओं को पटरी पर लाने के लिए किए गए प्रयासों का महत्वपूर्ण हिस्सा था। साम्राज्यवादी ताकतें चाहती थी कि आर्थिक नियंत्रण द्वारा वे नवोदित स्वतन्त्र राष्ट्रों के आर्थिक जीवन पर अपना नियंत्रण लादकर उनसे पहले जैसा ही लाभ उठा सकती हैं। इसके जन्म के निम्नलिखित कारण हैं–

### 5.4.1 उपनिवेशों में राजनीतिक चेतना का उदय

धीरे धीरे औपनिवेशिक शोषण के शिकार देशों में राजनीतिक चेतना का उदय हुआ। इससे वहां पर स्वतन्त्रता

आन्दोलन का तेजी से विकास होने लगा। भारत जैसे राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलन ने औपनिवेशिक ताकतों को यह अहसास करा दिया कि अब उनका नियंत्रण ज्यादा दिन तक नहीं टिक सकता। संयुक्त राष्ट्र संघ के चार्टर में आत्मनिर्णय के अधिकार को स्वीकृति मिल चुकी थी। इसलिए समय की नाजुकता के देखकर उन्हें अपनी उपनिवेशों को स्वतन्त्र करना पड़ा। परन्तु उन देशों की राजनीतिक अस्थिरता ने इन देशों को अपना आर्थिक नियंत्रण स्थापित करने का मौका दे दिया। इससे पुराना उपनिवेशवाद नए रूप में परिवर्तित हो गया।

### 5.4.2 यूरोपीय ताकतों का कमजोर होना

दो विश्व युद्धों ने यूरोप की साम्राज्यवादी ताकतों को भयंकर हानि पहुंचाई। अब उपनिवेशों में शासन चलाना उनके सामर्थ्य से बाहर हो गया। लगातार उठ रहे मुक्ति आंदोलनों ने भी बड़े–बड़े साम्राज्यों को नष्ट कर दिया। भारत में इंग्लैण्ड को जो हानि उठानी पड़ी, उससे भयभीत होकर अंग्रेजों ने यहा पर अपना औपनिवेशिक शासन जारी रखने में असमर्थता जाहिर की। नवोदित प्रभुसत्ता सम्पन्न राज्यों ने अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्धों को प्रभावित करना शुरू कर दिया। 1949 में चीन एक साम्यवादी शक्ति के रूप में उभरा। अब वहां पर साम्राज्यवादी ताकतों का टिकना मुश्किल हो गया। माओ ने सभी साम्राज्यवादी ताकतों को भयंकर परिणाम की चेतावनी दे डाली। लेकिन सभी नवोदित राष्ट्र चीन व भारत जैसे शक्तिशाली नहीं थे। अधिकतर देशों में अपने आर्थिक विकास का सामर्थ्य नहीं था। इसलिए उन्होंने अपने पुराने साहूकारों पर ही निर्भरता की इच्छा व्यक्त की। सभी साम्राज्यवादी ताकतें आर्थिक सहायता के नाम पर अपने अधीन रहे देशों में हस्तक्षेप के प्रयास करने लगी। इससे वहां नव–उपनिवेशवाद का जन्म हुआ।

### 5.4.3 नवोदित स्वतन्त्र राष्ट्रों की आर्थिक मजबूरियां

सभी नवोदित स्वतन्त्र राष्ट्रों अपने आर्थिक विकास के लिए विदेशी आर्थिक मदद की आवश्यकता अनुभव हुई। लम्बे समय औपनिवेशिक शासन के शिकार रह चुके अधिकतर देशों के आर्थिक साधनों का दोहन साम्राज्यवादी देश कर चुके थे। इन नवोदित राष्ट्रों के पास अपने आर्थिक विकास के लिए पर्याप्त पूंजी थी और न ही तकनीकी ज्ञान, अपने आर्थिक विकास के लक्ष्य को प्रापत करने के लिए इन देशों ने पुरानी उपनिवेशीय ताकतों से कर्ज लेने पर मजबूर कर दिया। इससे इन देशों में पुरानी उपनिवेशीय ताकतें फिर से अपना जाल बिछाने में कामयाब हुई और नए–उपनिवेशवाद का जन्म हुआ।

### 5.4.4 साम्राज्यवादी ताकतों की मजबूरियां

दो विश्व युद्धों ने साम्राज्यवादी ताकतों को बहुत ज्यादा आर्थिक हानि पहुंचाई। उपनिवेशवादी शासन के अन्त के साथ ही उनके कच्चे माल के स्त्रोत तथा तैयार माल बेचने वाली मंडिया समाप्त हो गई। इससे साम्राज्यवादी देशों को यह आवश्यकता महसूस हुई कि नवोदित स्वतन्त्र राष्ट्रों में मंडियों की खोज व कच्चे माल को प्राप्त करने के लिए क्या किया जाए। ऐसे समय में नवोदित राष्ट्रों की आर्थिक मजबूरियों का लाभ उठाने का विचार उनके मन में आया। इसलिए उन्होंने आर्थिक सहायता के नाम पर इन देशों में हस्तक्षेप करना शुरू कर दिया और धीरे–धीरे वहां नव–उपनिवेशवादी शासन की स्थापना के प्रयास किए जिससे वहां पर नव–उपनिवेशवाद की धारणा अस्तित्व में आई। इस व्यवस्था ने साम्राज्यवादी ताकतों की समस्त इच्छाओं को पूरा करने में भरपूर सहायता पहुंचाई।

### 5.4.5 विकसित राष्ट्रों की आर्थिक नीतियां

द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद अमेरिका और सोवियत संघ में शीत–युद्ध आरम्भ हो गया। दोनों महाशक्तियों ने अपनी–अपनी स्थिति मजबूत करने के लिए नए राष्ट्रों को अपने गुटों में शामिल करने का निर्णय किया। विदेशी सहायता शस्त्र पूर्ति, बहुराष्ट्रीय निगमों पर नियंत्रण आदि साधनों द्वारा इन महाशक्तियों ने नवोदित स्वतन्त्र राष्ट्रों को आर्थिक रूप से अपने नियंत्रण में ले लिया। इससे उपग्रही राज्यों की संख्या में वृद्धि होने लगी। उनकी सभी आर्थिक नीतियां एक–एक करके नव–उपनिवेशवाद को मजबूत आधार प्रदान करने के लिए ही थी। आज भी

अमेरिका जैसे विकसित राष्ट्र बहुराष्ट्रीय निगमों के माध्यम से अपने नव–उपनिवेशवादी नियंत्रण को सुदृढ़ बना रहे हैं।

### 5.5 नव–उपनिवेशवाद के साधन

धनी व शक्तिशाली साम्राज्यवादी राष्ट्र अपने आर्थिक हितों को पूरा करने के लिए नवोदित स्वतन्त्र राष्ट्रों में अपने नियंत्रण के अलग–अलग तरीके अपनाते हैं। उनका मुख्य ध्येय अविकसित देशों पर अपना नया साम्राज्यवादी नियंत्रण स्थापित करना है। इसके लिए उनके द्वारा अपनाए गए साधन निम्नलिखित हैं–

#### 12.5.1 बहुराष्ट्रीय निगम

सभी धनी देशों द्वारा विश्व के सभी भागों में आर्थिक तथा औद्योगिक अध्याययों को नियंत्रित करने के लिए बहुराष्ट्रीय निगमों का जाल बिछाया गया है। अपनी आर्थिक शक्ति व कार्यक्षेत्र में वृहता के कारण ये अपने क्षेत्राधिकार में आने वाले सभी देशों में अपनी मनमानी करने लगते हैं। इनका उद्देश्य अधिक से अधिक लाभ कमाना होता है। विकासशील देशों में ये बहुराष्ट्रीय कम्पनियां प्रत्यक्ष पूंजी निवेश करके पूंजीवादी देशों के लिए कच्चा माल तथा प्राथमिक उत्पादन की पूर्ति की गारन्टी देते हैं। ये सर्वाधिक निवेश प्राथमिक उत्पादन तथा कच्चा माल के क्षेत्र में करते हैं। ये जीवन में मूलभूत आवश्यकताओं की वस्तुओं के निवेश में सर्वाधिक मुनाफा देखते हैं। विकासशील देशों में सस्ते श्रम, कच्चे माल तथा शोषण की तीव्रता के कारण पूंजी निवेश से अधिक मुनाफा होता है। 1996 में भारत में 741 विदेशी कम्पनियों ने निवेश कर रखा था। भारत जैसे विकासशील देश में भी इन कम्पनियों को कई गुणा लाभ प्राप्त होता है। अपनी पूंजी की सुरक्षा के लिए ये निगम अपने नियंत्रण वाले देशों के आन्तरिक मामलों में भी हस्तक्षेप करते हैं। ये कम्पनियां विदेशों में अंतर्राष्ट्रीय पूंजी व्यापार, वाणिज्य तथा उत्पादन व वितरण पर अपना एकाधिकार करने के लिए कार्य कर रहे हैं। एशिया, अफ्रीका तथा लैटिन अमेरिका के देशों पर इनका पूरा नियंत्रण है। IBM, GEC तथा Standard Oil जैसी लिए ये अपने अधीन राष्ट्रों के राजनीतिक हस्तक्षेप करने से भी नहीं चूकते। इस प्रकार बहुराष्ट्रीय निगम नव–उपनिवेशवाद के सबसे अधिक शक्तिशाली साधन हैं और इन्हें सभी विकसित राष्ट्रों का पूरा समर्थन प्राप्त होता है।

#### 5.5.1 विदेशी सहायता तथा साम्राज्यवादी कर्ज

नवोदित स्वतन्त्र राष्ट्र अपने आर्थिक विकास के लिए पूर्ण रूप से विदेशी सहायता व साम्राज्यवादी कर्ज पर ह निर्भर हैं। अपने कर्ज की आड़ में तथा विदेशी सहायता के नाम पर विकसित राष्ट्र इन देशों को मनमानी शर्ते मानने के लिए बाध्य कर देते हैं। इन्हें कर्ज लेते समय अनेक कठोर शर्ते भी माननी पड़ती है। इन देशों का कर्जा दिन–प्रतिदिन बढ़ता ही जा रहा है। निर्यात से प्राप्त आय का अधिकतर हिस्सा साम्राज्यवादी कर्ज का ब्याज चुकाने में लग जाता है और भुगतान संतुलन का घाटा निरंतर बढ़ता ही जाता है। उन्हें इस कर्ज की राशि का प्रयोग बहुराष्ट्रीय कम्पनियों से ही सामान खरीदने के लिए करना पड़ता है। उन्हें व्यापार अवरोधों को समाप्त करने की शर्ते भी माननी पड़ती है। सभी शर्ते पूंजी निवेश करने वाले देशों के हितो की पोषक होती हैं। विदेशी सहायता प्राप्त करने वाले देश को सदैव निवेशक या सहायता प्रदान करने वाले देश के हितों में वृद्धि करने के लिए अपनी अर्थव्यवस्था में मूलभूत परिवर्तन करने पड़ते हैं। धीरे–धीरे साम्राज्यवादी कर्ज और विदेशी सहायता पर से भी बदतर होती है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि विदेशी सहायता तथा साम्राज्यवादी कर्ज की होड़ में विकसित देश नव–उपनिवेशवाद का ही पोषण कर रहे हैं।

#### 5.5.2 हथियारों की पूर्ति

आज के आणविक युग में प्रत्येक राष्ट्र अपने को सैनिक व सामरिक दृष्टि से सुरक्षित देखना चाहता है। इसके लिए उन्हें विकसित देशों से शस्त्र खरीदने पड़ते हैं। आर्थिक रूप से कमजोर होने के कारण ये देश कई बार कर्जा भी

लेते हैं। आज विकासशील देशों की राष्ट्रीय आय का अधिकतर हिस्सा हथियार खरीदने पर ही खर्च हो रहा है। महाशक्तियों द्वारा किया जाने वाला शक्ति प्रदर्शन शस्त्र प्रतिस्पर्धा को बढ़ावा देता है। 1979 में महाशक्तियों का आपसी टकराव विदेशों में पहुंचकर पर्याप्त लाभ दिलाए। इन महाशक्तियों द्वारा द्वितीय विश्व युद्ध के बाद किए गए शक्ति प्रदर्शन इनके शस्त्र उद्योग में आई मन्दी को कम करने में सहायता सिद्ध हुए। आज तृतीय दुनिया के अधिकतर देश अमेरिका, फ्रांस, ब्रिटेन तथा सोवियत संघ से ही हथियार खरीदते हैं। अपनी औपनिवेशिक स्थिति को मजबूत बनाने के लिए साम्राज्यवादी देशों ने तीसरी दुनिया के देशों में अपनी सैनिक अड्डे खोल रखे हैं। हथियारों की पूर्ति के रूप में ये देश नव–उपनिवेशवाद को ही बढ़ावा दे रहे हैं।

### 5.5.3 अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक संस्थाएं

आज विश्व बैंक, अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष (IMF) जैसी अंतर्राष्ट्रीय संस्थाएं अंतर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था का संचालन कर रही हैं। ये संस्थाएं ऋण देते समय कठोर शर्ते लगाकर नव–उपनिवेशवाद का ही पोषण करती हैं। देशों को दिया जाने वाला ऋण हमेशा राजनीतिक प्रतिबन्धों पर आधारित होता है। वह हमेशा विकसित राष्ट्रों के हितों का ही पोषक होता है। इसीलिए तृतीय विश्व के देश नई अंतर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की पुरजोर मांग करते रहते हैं। उनका आरोप है कि विश्व की आर्थिक संस्थाएं साम्राज्यवादी हितों को पोषित करने वाली है। ये निरंतर पिछडे हुए या विकासशील देशों के आर्थिक व राजनीतिक हितों पर कुठाराघात करती हैं। इस तरह ये उपनिवेशवाद के नए रूप को बढ़ावा दे रही हैं।

### 5.5.4 आश्रित या उपग्रही–राज्य

साम्राज्यवादी शक्तियां आर्थिक सहायता देकर पिछड़े राष्ट्रों को निरंतर कमजोर करती रहती है। वहां के आर्थिक व राजनीतिक जीवन में साम्राज्यवादी या निवेशकर्ता देश का पूरा हस्तक्षेप बढ़ जाता है। विदेशी ताकत आश्रित देश के व्यापार पर अपना पूर्ण नियंत्रण रखती है तो उनका नियंत्रण धीरे–धीरे स्थायी रूप प्राप्त कर लेता है और यह निर्भरता निरन्तर बढ़ती ही रहती है और वह अन्त में उपग्रही राज्य का रूप ले लेता है। अब साम्राज्यवादी ताकत आर्थिक क्षेत्र की बजाय राजनीतिक क्षेत्र की तरफ अपना ध्यान लगा लेती है। इससे उपग्रही राष्ट्र को अपने आका की हर बात मानने के लिए बाध्य होना पड़ता है। 1990 से पहले सोवियत संघ ने इस प्रकार की नीति का खुलकर प्रयोग किया था। इसके पीछे नव–उपनिवेशवाद के प्रसार की ही भावना विद्यमान रहती है।

## 5.6 सारांश

इस प्रकार कहा जा सकता है कि आज भी नव–उपनिवेशवाद के रूप में विकसित राष्ट्र अल्पविकसित तथा विकासशील देशों पर अपना वर्चस्व बनाए हुए हैं। दक्षिण के गरीब देश निरंतर नव–उपनिवेशवाद के शोषण का शिकार हो रहे हैं। उत्तर के विकसित देश बहुराष्ट्रीय निगमों तथा अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक संस्थाओं के माध्यम से इन देशों पर अपनी पकड़ मजबूत बनाए हुए है। बहुराष्ट्रीय कम्पनियां विकासशील व पिछड़े देशों में दीमक की तरह घुस रही हैं। अधिकतर देशों में ये राजनीतिक व्यवहार को भी प्रभावित करने में समर्थ है। अपने हितों की पूर्ति के लिए विकसित राष्ट्र सांस्कृतिक साम्राज्यवाद का भी सहारा ले रहे हैं। शीतयुद्ध की समाप्ति के बाद संयुक्त राज्य अमेरिका विश्व में अपने आर्थिक या डॉलर साम्राज्यवाद का तेजी से विकास कर रहा है। वह आर्थिक जीवन के साथ–साथ विकासशील व पिछड़े तृतीय विश्व के देशों के राजनीतिक क्रिया–कलापों में भी हस्तक्षेप करने लगा है। यदि उसके उभरते नव–उपनिवेशवाद को न रोका गया तो समस्त विश्व के लिए नया खतरा पैदा हो जाएगा। आज तृतीय विश्व के देशों को एकजुट होकर नव–उपनिवेशवाद की जड़ें उखाड़ने की जरूरत है ताकि नई अंतर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की स्थापना हो सके।

## 5.7 प्रश्नावली

1. नव–उपनिवेशवाद से आपका क्या अभिप्राय है? इसके प्रमुख कारकों का वर्णन कीजिए।
2. नव–उपनिवेशवाद के विस्तार के तरीकों का आलोचनात्मक वर्णन कीजिए।
3. क्या विश्व की ज्यादातर समस्याओं का कारण नव–उपनिवेशवाद है? अपने विचार के पक्ष में तर्क दीजिए।
4. क्या समसामयिक वैश्वीकरण प्रक्रिया नव–उपनिवेशवाद का पोषक है? अपने विचार के पक्ष में तर्क दीजिए।

## 5.8 पाठन सामग्री

1. महेन्द्र कुमार, अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के सैद्धान्तिक पक्ष (आगरा, 1984)
2. हेंस जे. मारगेन्थाऊ, पॉलिटिक्स अमंग नेशंज (कलकत्ता, 1972)
3. पीटर कलवोसिरेसी, वर्ल्ड पॉलिटिक्स सिंस, 1945 (लन्दन, 1987)
4. नार्मन डी. पामर एवं होवर्ड डी पकिंज, इन्टरनेशनल रिलेसन्ज, (कलकत्ता, 1970)
5. जॉन बेलिस एवं स्टीव स्मीथ, सम्पा०, ग्लोबलाईजेसन ऑफ वर्ल्ड पॉलिटिक्स (न्ययार्क, 2002)
6. अनीकचटर्जी, इन्टरनेशनल रिलेसंज टूडे (दिल्ली, 2010)
7. रूमकी बासु, सम्पा०, इन्टरनेशनल पॉलिटिक्स : कन्सेपटस, थ्यौरिज एण्ड इश्यूज, (सेज, 2012)
8. क्रिस्टीयन रूसेमित एवं डंकन एनीडल, सम्पा०, दॉ ऑक्सफोर्ड हेंडबुक ऑफ इन्टरनेशनल रिलेसंज, (ऑक्सफोर्ड यूनि. प्रैस, 2010)

अध्याय–6

# निर्भरता का सिद्धान्त

## अध्याय का ढ़ांचा

6.1 प्रस्तावना

6.1.1 अध्याय के उद्देश्य

6.2 सिद्धान्त की प्रबलता के कारण

6.3 सिद्धान्त के प्रमुख आधार

6.3.1 निर्भरता पर आधारित

6.3.1.1 संरचनात्मक स्कूल

6.3.1.2 गैर विकास का विकास

6.3.1.3 निर्भरता–विकास स्कूल

6.3.2 विश्व प्रणाली पर आधारित

6.4. प्रमुख विशेषताएं

6.5 आलोचनाएं

6.6 उपयोगिता

6.7 सारांश

6.8 प्रश्नावली

6.9 पाठन सामग्री

### 6.1 प्रस्तावना

अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में निर्भरता का सिद्धान्त मूल रूप से मार्क्सवाद से प्रभावित रहा है। मार्क्सवाद के साथ–साथ होबसन व लेनिन के साम्राज्यवाद की अवधारणा ने इसे और मजबूत बना दिया है। परन्तु क्योंकि मार्क्सवाद राज्य के अस्तित्व को नहीं मानते इसीलिए इसे नव–मार्क्सवादी अवधारणा मानना ज्यादा तर्कसंगत होगा। वैसे तो यह अवधारणा अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में 1950 के दशक से विद्यमान है, परन्तु 1970 के दशक से ज्यादा महत्वपूर्ण बन गई है। इस काल के अंतर्राष्ट्रीय राजनीतिक के अध्ययन हेतु राजनीतिक–आर्थिक तत्वों में संबंध पर अधिक बल दिया जाने लगा है।

इस सिद्धान्त के मुख्य समर्थकों में पॉल बरान, पॉल स्वीजी, हेरी मैडगाफ, एंड्रि गुंडर फैंक, अग्रहीरी इमेनुअल, समीर अमीर, इमेनुअल वालरस्टेन आदि प्रमुख हैं।

### 6.1.1 अध्याय के उद्देश्य

इस अध्याय का मुख्य उद्देश्य विद्यार्थियों को अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के निर्भरता के सिद्धान्त से परिचित कराना है। इस अध्याय में निर्भरता के सिद्धान्त की प्रबलता के कारणों, विभिन्न दृष्टिकोण, इसकी विशेषताओं, आलोचनाओं व उपयोगिता के बारे में विस्तारपूर्वक बताना है। इस सिद्धान्त के विभिन्न पहलुओं के बारे में जानकारी के साथ इसके द्वारा राजनीतिक गतिविधियों का समझना भी सम्भव हो सकेगा। अतः यह अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के महत्त्वपूर्ण बदलाओं का ज्ञात करवाने का एक उत्तम तरीका है।

## 6.2 सिद्धान्त की प्रबलता के कारण

1. सर्वप्रथम, अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में आये विभिन्न बदलावों के परिणामस्वरूप इस सिद्धान्त को अधिक महत्व मिला। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद राष्ट्रों के मध्य संबंधों का मुख्य आधार परस्पर अन्तः निर्भरता रहा। धीरे–धीरे यह अंतर्निर्भरता उनके (विशेषकर तीसरी दुनिया के राष्ट्रों की) अस्तित्व का प्रश्न बन गया। परन्तु इसके साथ–साथ विकास का दौर भी जारी रहा। लेकिन यह विकास आर्थिक रूप से समान नहीं रहा। अतः एक दूसरे पर निर्भरता और अधिक उजागर होने लगी तथा इनके प्रभावों के आंकलन की प्रक्रिया में निर्भरता के सिद्धान्त का जन्म हुआ।

2. द्वितीय, द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् एशिया, अफ्रीका व दक्षिणी अमेरिका के बहुत से राज्य स्वतन्त्र हुए। स्वतन्त्रता के उपरान्त इन राज्यों को राष्ट्र निर्माण की बहुत सी समस्याओं से जूझना पड़ा। तब इन नव–स्वतन्त्र राष्ट्रों को अनुभव हुआ कि राजनैतिक स्वतन्त्र उपरान्त भी ये राज्य वास्तव में आजाद नहीं है। बहुत से आर्थिक मुद्दों पर ये आज भी अपने ऐतिहासिक सन्दर्भो से जुड़े हुए हैं। इसके अतिरिक्त, प्राचीन दृष्टिकोणों के माध्यम से उनकी इन समस्याओं का अध्ययन करना भी सम्भव नहीं रहा था। अतः एक नये दृष्टिकोण की आवश्यकता महसूस होने लगी जो राजनैतिक–आर्थिक व्यवस्थाओं के संबंधों के अनुरूप इनकी समस्याओं का अध्ययन कर सके।

3. तृतीय, स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद दक्षिणी अमेरिकी देशों में से ज्यादातर अपना प्रशासन सुचारू रूप से नहीं चला सके तथा वहां पर अराजकता, राजनैतिक अस्थिरता, प्रशासनिक विफलता आदि सामान्य बात हो गई। इससे एक महत्वपूर्ण प्रश्न यह उठा कि क्यों इन राष्ट्रों का विकास नहीं हो पा रहा है? किन कारणों से यहां अशांति एवं विफलताएं फैली हुई हैं? इनके कारणों के जांच के बिना इनका समाधान सम्भव नहीं था। और इस जांच हेतु यह पाया गया कि इसमें आर्थिक व राजनैतिक तत्वों के संबंध की जानकारी अति महत्वपूर्ण रहेगी।

4. अन्ततः 1970 के दशक तक आते–आते ज्यादातर तीसरी दुनिया के देश स्वतन्त्र राष्ट्रों की श्रेणी में आ चुके थे। अब उनके राज्यों में राजनैतिक व प्रशासनिक गतिविधियां पूर्ण हो चुकी थी। परन्तु उन राष्ट्रों के समक्ष मुख्य चुनौतियों के रूप में राष्ट्र निर्माण, व्यापार, आर्थिक विकास, औद्योगिक विकास आदि की बहुत सी समस्याएं उपलब्ध थी। इन सभी कारणों से अब राजनैतिक की बजाए आर्थिक विषय अत्यन्त महत्वपूर्ण होते चले गये। इसलिए बढ़ते हुए आर्थिक महत्व के परिणामस्वरूप निर्भरता का सिद्धान्त अत्यन्त महत्वपूर्ण बन गया।

## 6.3 सिद्धान्त के प्रमुख आधार

निर्भरता का सिद्धान्त इस मूल मान्यता पर आधारित है कि राजनैतिक एवं आर्थिक कारकों के बीच एक गहन संबंध होता है। ये दोनों कारक परस्पर प्रभावित करते हैं तथा काफी हद तक आर्थिक कारकों के आधार पर राजनीति में महत्वपूर्ण बदलाव देखने को मिलते हैं।

इस सिद्धान्त को परिभाषित करना अति कठिन है, क्योंकि अलग–अलग लेखकों ने विभिन्न प्रकार से इसकी व्याख्या प्रस्तुत करने की कोशिश की है। मुख्य रूप से विभिन्न विद्वानों का मानना है कि – प्रथम, निर्भरता एक ऐसी प्रक्रिया है जिसके माध्यम से परिधि वाले राष्ट्रों को अंतर्राष्ट्रीय पूंजीवादी प्रणाली में संगठित करने का प्रयास किया जाता है। द्वितीय, इस प्रक्रिया के माध्यम से राष्ट्रों के संरचनात्मक स्थिति में परिवर्तन से उनके समाजों में विकृतियां पैदा होती हैं।

इस सिद्धान्त को विश्लेषण की सुविधा हेतु दो भागों में विभाजित किया जा सकता है –

### 6.3.1 निर्भरता पर आधारित

बहुत से विद्वानों ने इस सिद्धान्त को 'केन्द्र' व 'परिधि' के राष्ट्रों के मध्य हुई आर्थिक व राजनैतिक अन्तःक्रियाओं के रूप में देखा है।

मूल रूप में उनकी सोच में विशेष अन्तर नहीं दिखाई पड़ता, परन्तु किसी कारक विशेष को अधिक व कम महत्व की दृष्टि से उन्हें तीन श्रेणियों में बांटा जा सकता है जिसका विवरण इस प्रकार से है –

#### 6.3.1.1 संरचनात्मक स्कूल

इस वर्ग के अग्रणीय लेखक के रूप में राऊल प्रबीसिच, जो संयुक्त राष्ट्र के दक्षिणी अमेरिकी आर्थिक आयोग के अध्यक्ष रहे, का नाम लिया जा सकता है। इसके साथ–साथ फुरटाडो व शंकत को भी इसी वर्ग में शामिल माना जा सकता है।

इस विचार के समर्थन विद्वान अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था को केन्द्र व परिधि के राज्यों में बंटा हुआ मानते हैं। उनके अनुसार उत्पादन के परम्परागत तरीकों से केन्द्र के राष्ट्रों के पास अत्याधिक सम्पदा इकट्ठी हो गई है। इसीलिए उन विद्वानों का मानना है कि विकास व गैर विकास या अविकसित को अलग नहीं किया जा सकता, बल्कि ये दोनों एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। इसके अतिरिक्त, न ही आज आन्तरिक व बाह्य कारकों के बीच अन्तर रखा जा सकता है, बल्कि दोनों एक दूसरे से जुड़े हुए हैं। इसीलिए लैटिन अमेरिकी देशों के आधारभूत औद्योगिक विकास के बाद ही उनको औपनिवेशिक व साम्राज्यवादी बन्धनों से मुक्ति मिल सकती हैं।

#### 6.3.1.2 गैर विकास का विकास

इस मत से जुड़े लोगों में प्रमुख हैं एंड्रिगुंडर फ्रैंक, पाल बरान, समीन अमीन आदि। ये विद्वान विश्व व्यवस्था को "महानगरों" व "उपग्रहों" के रूप में विभाजित मानते हैं। फैंक का मानना है कि पूंजीवाद के माध्यम से हमेशा 'उपग्रहों' वाले राज्यों में "गैर–विकास का विकास" होता है। महानगरों वाले राष्ट्र इन्हे अपने अतिरिक्त पूंजी के लाभांश से इन्हें और अविकसित बना देते हैं। उपग्रहों वाले राज्यों में अविकसितता का विकास एक सम्पूर्ण ऐतिहासिक प्रक्रिया का ही हिस्सा है, अपने आप में कोई स्वतन्त्र गतिविधि नहीं है। इसलिए जब–जब इन उपग्रह वाले राष्ट्रों का महानगरों वाले राष्ट्रों के कमजोर बन्धन रहा है इन्होंने अपनी विकास दर को बढ़ाया है तथा जब जब ये उनसे अधिक जुड़े रहे हैं यह प्रक्रिया विपरीत रही है। इसीलिए किसी राष्ट्र में पिछड़पन का विकास पूंजीवादी व्यवस्था में उस राज्य के पदसोपान के आधार पर अध्ययन की जा सकती है। इसके अतिरिक्त, इसका उस समाज में स्थापित आर्थिक ढांचों के आधार पर भी मूल्यांकन किया जा सकता है। इस मत की भी दो आधारों पर आलोचनाएं की गई हैं – प्रथम, पूंजी की उपलब्धता व पूंजीवाद दो अलग–अलग बिन्दु हैं सो उन्हें एक नहीं मानना चाहिए। द्वितीय, इस सिद्धान्त के आधार पर पूर्ण रूप से यह स्थापित नहीं किया जा सकता कि विकास से किस प्रकार लैटिन अमेरिकी देशों में पिछड़ेपन का विकास हुआ।

### 6.3.1.3 निर्भरता–विकास स्कूल

तीसरा वर्ग उन विचारकों का है जो निर्भरता व विकास के संबंधों को जुड़ा मानते हैं। इनमें से प्रमुख विचारक हैं – कारडोसों, फालेटो व ओसवाल्डो शंकल। इनका मानना है कि ऐतिहासिक – संरचनात्मक दृष्टि से दक्षिणी अमेरिकी देशों में पूंजी निवेश के संदर्भ में मूलभूत परिवर्तन आये हैं। उनका मानना है कि पूंजी निवेश कृषि या कच्चा माल के उत्पाद की बजाय तैयारशुदा माल में लगाया गया है तथा इसके जुडे संयुक्त उद्यमों में स्थानीय व बाह्म पूंजीनिवेशकों में सहयोग रहा है। इसीलिए निर्भरता, पूंजीवाद वर्चस्व व विकास विरोधाभाषपूर्ण न होकर तीसरी दुनिया के देशों में एक संग्रहित वर्चस्व स्थापित करने की स्थिति रही है। इसीलिए उपभोक्ता वस्तुओं के उत्पाद को बढ़ा कर तीसरी दुनिया के देशों के शहरी आबादी की आवश्यकता की पूर्ति बाह्म बहुराष्ट्रीय कम्पनियों द्वारा की गई है। इसीलिए इन समाजों की संरचनात्मक व्यवस्था में बिखराव पैदा कर दिया गया है। इसीलिए इन बहुराष्ट्रीय कम्पनियों ने तीसरी दुनिया के देशों में निर्भरता से जुड़े विकास की स्थिति पैदा कर दी है।

यद्यपि इस वर्ग के विचारकों ने एक पूर्व निर्धारित व्याख्या से अलग हटकर नई व्याख्या दी है, परन्तु इससे वर्ग के सिद्धान्त को एक मूल ईकाई के रूप में उचित प्रयोग नहीं किया जा सका।

उपरोक्त तीनों वर्गो में विचारों में कहीं–कहीं भिन्नता भी देखने को मिलती है तथा परम्परागत मार्क्सवाद से भी कई संदर्भो में अलग है। परन्तु यह सत्य है कि इन सभी के अनुसार आर्थिक विकास की दृष्टि से 'परिधि' वाले राष्ट्र आज भी महानगरीय केन्द्रों पर निर्भर हैं। इसी कारण से शायद महानगरों में विकास का विकास तथा परिधि राष्ट्रों में अविकास का विकास हो रहा है।

### 6.3.2 विश्व प्रणाली सिद्धान्त

निर्भरता सिद्धान्त के ही अन्य रूप को विश्व–प्रणाली सिद्धान्त के अंतर्गत भी अध्ययन किया गया है। यद्यपि कुछ विचारक इन दोनों को अलग मानते हैं, परन्तु दोनों की मूल मान्यताओं में कोई अन्तर नहीं है। अन्तर केवल व्याख्या को लेकर है। अतः इसे निर्भरता के ही एक रूप के अंतर्गत स्वीकारना ज्यादा उचित है।

विश्व प्रणाली सिद्धान्त के प्रमुख प्रणेता इमेनुअल वालरस्टेन को कहा जा सकता है जिन्होंने अपनी पुस्तक दॉ मॉडर्न वर्ल्ड सिस्टन में इसका विस्तृत उल्लेख किया है। वालरस्टेन का मानना है कि इतिहास में दो प्रकार की विश्व प्रणालियां पाई जाती हैं। 'विश्व साम्राज्य' व 'विश्व अर्थव्यवस्था'। दोनों में मुख्य अन्तर यह है कि संसाधनों के बंटवारे के बारे में किस प्रकार से निर्णय लिए जाते हैं। उनका मानना है कि 'विश्व साम्राज्य' व्यवस्था में शक्ति का प्रयोग 'परिधि' राज्यों से 'केन्द्र' राज्यों की ओर संसाधनों का बंटवारा किया जाता है। इसके विपरीत विश्व अर्थव्यवस्था प्रणाली में एक केन्द्रीयकृत राजनीतिक ढांचे का अभाव होता है। अतः कानून के द्वारा संसाधन का बंटवारा किए जाने की बजाए बाजार के माध्यम से इसे सम्पन्न किया जाता है। इस प्रकार यद्धपि संसाधनों के बंटवारे के सम्बन्ध में दोनों के तरीके भिन्न हैं परन्तु दोनों का ही कुल परिणाम एक समान है। वह है परिधि वाले राष्ट्रों से केन्द्रीय राज्यों की ओर संसाधनों का हस्तांतरण हो रहा है।

वालरस्टेन के अनुसार केन्द्र राष्ट्रों की विशेषता है कि – प्रजातांत्रिक सरकारें; उच्च वेतन; कच्चे माल का आयात; तैयारशुदा माल का निर्यात; उच्च पूंजी निवेश; कल्याणकारी सेवाएं आदि। ठीक इसके विपरीत परिधि वाले राष्ट्रों की विशेषताएं हैं – गैर–प्रजातान्त्रिक सरकार पद्धति; कच्चे माल का निर्यात; तैयार माल की आयात; निम्न स्तरीय वेतन; कल्याणकारी सेवाओं का अभाव। परन्तु वालरस्टेन निर्भरतावादियों से थोड़ा भिन्न हैं। वे केन्द्र व परिधि के इलावा राष्ट्रों की एक तृतीय श्रेणी सम परिधी भी मानते हैं। इस प्रकार के राष्ट्रों की विशेषताएं हैं – सत्तात्मक सरकारें; कच्चे व तैयार माल का निर्यात; तैयार माल व कच्चे माल का आयात; कम वेतनमान; निम्न स्तरीय कल्याणकारी सेवाएं आदि।

वालरस्टेन का भी मानना है कि ये तीनों श्रेणी के राष्ट्र आपस में उत्पादन के शोषणात्मक तरीकों से जुड़े हुए हैं जिसके माध्यम से सम्पदा का हस्तांतरण परिधि के केन्द्र वाले राज्यों की तरफ हो रहा है। इसका मानना है कि क्रमिक उतार–चढ़ाव, धर्मनिरपेक्ष पद्धति एवं विरोधाभासों के कारण विश्व प्रणाली में संकट आते हैं। इन्हीं संकटों के कारण नई विश्व व्यवस्था का जन्म होता है।

वालरस्टेन के विश्व प्रणाली सिद्धान्त की मार्क्सवादियों एवं गैर–मार्क्सवादियों दोनों ही ने आलोचनाएं की है। कुछ लेखकों जैसे चेज व पून का मानना है कि वालरस्टेन ने इसे केवल आर्थिक कारकों तक ही सीमित कर दिया, जबकि अन्य कारकों की भी महत्वपूर्ण भूमिका होती है। द्वितीय, फ्रैंक व गिल का मानना है कि वालरस्टेन ने इस सारे प्रकरण को यूरोप केन्द्रित बना कर रख दिया जिसके उत्पत्ति मध्ययुगीन यूरोप से मानी जाती है। परन्तु यदि गहन अध्ययन किया जाए तो वर्तमान विश्व प्रणाली की जड़े मध्ययुगीन यूरोप से कहीं अधिक मजबूत हैं।

## 6.4 प्रमुख विशेषताएं

उपरोक्त दोनों ही अवस्थाओं में अध्ययन के पश्चात् हम कह सकते हैं कि निर्भरता के सिद्धान्त की प्रमुख विशेषताएं निम्नलिखित हैं –

(i) सर्वप्रथम अधिकतर विद्वानों का मानना है कि वर्तमान संदर्भ में राज्यों की उत्पत्ति का प्रमुख कारण पूंजीवाद का विकास है। इसी पूंजी के विकास के कारण अंतर्राष्ट्रीय अन्तः क्रियाओं का आरम्भ माना जा सकता है। राज्यों के बीच संसाधनों को लेकर संघर्ष तथा केन्द्र वाले राज्यों का परिधि वाले राज्यों के साथ शोषण युक्त संबंधों का मूल कारण पूंजीवाद का विकास ही माना जा सकता है।

(ii) अधिकतर विद्वानों का मत है पूंजी व उत्पादन के संबंधों की दृष्टि से विश्व दो भागों या तीन (वालरस्टेन) भागों में बंटा हुआ है। ये तीनों भाग हैं – केन्द्र, परिधि व सम–परिधि वाले राष्ट्र। इन राष्ट्रों को मूल रूप में देखें तो विकसित या पिछड़े राष्ट्रों की श्रेणी में रख सकते हैं। इसके अतिरिक्त, वालरस्टेन के सम–परिधि वाले राष्ट्रों को दोनों का मिश्रण या विकासोन्मुख राष्ट्र कहा जा सकता हैं

(iii) यदि केन्द्र व परिधि वाले राष्ट्रों की तुलना करें तो दोनों की गतिविधियां एक दूसरे के विरोधी पाई जाती हैं केन्द्र वाले राज्य मुख्य रूप से विकसित राष्ट्रों की श्रेणी में आते हैं अतः मूलतः प्रजातान्त्रिक पद्धति के साथ–साथ जनसाधारण का निर्यात होता है। यहां कल्याणकारी सेवाएं उपलब्ध कराई जाती हैं। इसके विपरीत परिधि वाले राष्ट्र मुख्यतः विकासशील या पिछड़े राज्यों की श्रेणी में आते हैं। यहाँ पर ज्यादातर देशों में सरकारें निरंकुश व तानाशाही पर आधारित होती हैं। ये मुख्यतः अपना कच्चा माल निर्यात कर विकसित राष्ट्रों से तैयार माल आयात करते हैं। इनके यहाँ सार्वजनिक व कल्याणकारी सेवाओं का अभाव भी मिलता हैं। इस प्रकार दोनों की स्थित एक–दूसरे के विपरीत पाई जाती है।

(iv) दोनों वर्गो के देशो में अतिरिक्त मूल्य की उपलब्धता में भी बड़ा अन्तर देखने को मिलता है। जहां तक केन्द्र वाले राज्य हैं वहां तकनीकि व औद्योगिक विकास होने के कारण उत्पादकता अधिक होती है। इसके साथ–साथ लागत कम होने से अतिरिक्त मूल्य काफी मात्रा में पाया जाता है। दूसरी ओर विकासशील देश औद्योगिक व तकनीकी दोनों की दृष्टियों से पिछड़े होने के कारण अतिरिक्त मूल्य अर्जित करने में सक्षम नहीं होते। अतः विकसित राष्ट्र ही बाह्य देशों में पूंजीनिवेश या वर्चस्व बनाने की सोच सकते हैं, विकासशील राष्ट्रों का तो मात्र शोषण ही होता है।

(v) इस सिद्धान्त के समर्थकों का मत है कि ज्यादातर विकासशील देश राजनैतिक रूप से तो स्वतन्त्र हैं लेकिन आर्थिकरूप से अभी भी वे अपने केन्द्रो (औपनिवेशिक ताकतों) से जुड़े हुए हैं। इस कारण से वे राष्ट्र

सैद्धान्तिक रूप से तो आजाद है, परन्तु व्यवहारिक रूप से ऐसा नहीं है। अपनी आर्थिक निर्भरता के कारण वे अभी भी 'केन्द्र' सम्बन्धित राष्ट्रों की ओर ही देखते हैं।

(vi) यदि केन्द्र व परिधि वाले राज्यों के आर्थिक उत्पादन की दिशा देखें तब दोनों प्रकार के राष्ट्रों की स्थिति बड़ी ही विरोधाभासपूर्ण प्रतीत होती है। जहां तक केन्द्र वाले राज्यों का प्रश्न है वहां पर एड्री गुंडर फ्रैंक की भाषा में "विकास का और विकास" हो रहा है। जबकि परिधि वाले राष्ट्रों की स्थिति बिल्कुल ठीक इसके विपरीत है। इन देशों में "अविकास या पिछड़ेपन का और विकास" हो रहा है। अर्थात् जहां पर केन्द्र वाले राज्य उन्नति की ओर अत्यार्धिक अग्रसर हैं, वहीं परिधि वाले राष्ट्र अवनति या पतन की ओर अधिक अग्रसर हैं।

(vii) इस सिद्धान्त के समर्थकों का मानना है कि केन्द्र व परिधि वाले राष्ट्रों के मध्य शोषण का रिश्ता होता है (केन्द्र वाले राज्य अलग–अलग तरीकों के माध्यम से परिधि वाले राज्यों के संसाधनों का हस्तांतरण कर अपना विकास करते रहते हैं। यह संबंध ऐतिहासिक काल में ही नहीं, अपितु वर्तमान समय में भी बदले हुए रूप में जारी है। वर्तमान समय में ये राष्ट्र बहुराष्ट्रीय या राष्ट्रोपरि कम्पनियों के माध्यम से इनके संसाधनों का निरंतर हस्तांतरण अपने पक्ष में करते रहते हैं। इन राष्ट्रों की राजनैतिक आजादी के बाद आज तक इस प्रकार का शोषण बदले हुए स्वरूप में जारी है।

(viii) केन्द्र व परिधि वाले राष्ट्रों के मध्य नवीन आर्थिक परिवर्तनों के परिणामस्वरूप राज्यों की स्थिति व स्वरूप बदल गए हैं। नवीन शक्ति समीकरण बन गये हैं जिसके अंतर्गत केन्द्र के राज्य अत्याधिक पूंजी के विकास के कारण शक्तिशाली राष्ट्र बन गए हैं। परन्तु परिधि के राष्ट्रों के पास साधनों का अभाव है इसीलिए मात्र छोटे राज्यों की श्रेणी में आ गए हैं दोनों राष्ट्रों के बीच राजनैतिक व आर्थिक विभिन्नता के साथ–साथ शक्तिशाली व कमजोर राष्ट्रों का बंधन स्थापित हो गया है।

(ix) इन बदली हुई परिस्थितियों के कारण अब विश्व व्यवस्था का शक्ति संतुलन भी केन्द्र वाले राष्ट्रों के हाथ में आ गया है। वे राष्ट्र अब अपनी शक्ति के विस्तार व प्रदर्शन हेतु मूलतः दो प्रकार की नीतियों का अनुसरण करते हैं। प्रथम, ये राष्ट्र परस्पर शक्ति संतुलन का सिद्धान्त लागू करते हैं। इसके माध्यम से ये सतत् रूप से शक्ति के बढ़ाने व संतुलन बनाने में लगे रहते हैं। द्वितीय, आपसी संतुलन के बावजूद इन शक्तिशाली राष्ट्रों का अन्तिम उद्देश्य अपना वर्चस्व या सर्वाधिकार स्थापित करना रहता है। इन्हीं दोनों नीतियों के कारण वे शक्तिशाली होकर भी हमेशा यथास्थिति बनाए रखने में संघर्षरत रहते हैं।

(x) इन दोनों प्रकार के राष्ट्रों के संबंध मात्र राजनैतिक एवं आर्थिक स्थिति तक ही सीमित नहीं हैं। केन्द्र वाले राज्यों द्वारा परिधि के राष्ट्रों का शोषण करने की प्रक्रिया में मजदूरों का सम्मिलित होना भी अनिवार्य हो जाता है। इसके परिणामस्परूप इन राष्ट्रों के मध्य रंगभेद की विचारधारा का जन्म भी हो गया हैं। जातीय या चमड़ी के रंग को लेकर भी अब विकसित देश अपने को श्रेष्ठ एवं विकासशील राष्ट्रों को हेय मानने लगे हैं। अतः राजनैतिक व आर्थिक के साथ–साथ सांस्कृतिक दृष्टि से भी इन राष्ट्रों के बीच की खाई और गहरा गई है।

## 6.5 आलोचनाएं

निर्भरता के सिद्धान्त की निम्नलिखित प्रमुख आधारों पर आलोचनाएं की गई हैं–

(i) सभी विद्वानों इस सिद्धान्त के अंतर्गत केन्द्र व परिधि को एक संगठित स्वरूप प्रदान करते हैं। परन्तु इस प्रकार की मान्यता बिल्कुल गलत है। दोनों श्रेणियों के राष्ट्रों में कितनी भी समानता हो फिर भी पूर्णरूप से सभी राष्ट्रों के मध्य एकरूपता मानकर चलना गलत है। केन्द्र वाले राष्ट्रों एवं परिधि वाले राष्टों में आपसी

मतभेद भी व्याप्त है। इन समूहों के आन्तरिक विवादों/मतभेदों को नकारना व्यर्थ है। अतः इस मोटे रूप में विभाजन से इन समूहों के आपसी मतभेदों/समस्याओं का विश्लेषण नहीं हो पाता।

(ii) इस सिद्धान्त की एक सबसे महत्वपूर्ण कमी इसके पूर्व निर्धारित स्वरूप की है। इसमें पूंजीवाद को ही एकमात्र राष्ट्रों के शोषण का कारण माना है। अतः सिद्धान्त की सारी प्रक्रिया को मात्र एक तत्व में समेट कर रख दिया है। यह सत्य है कि केन्द्र व परिधि वाले राष्ट्रों के मध्य आर्थिक संबंध एक महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। लेकिन यह भी उतना ही सत्य है कि सिर्फ यही एक मात्र कारण नहीं है। अन्य कारक भी काफी हद तक इन राष्ट्रों के स्वरूप में परिवर्तन हेतु उत्तरदायी हैं।

(iii) इस सिद्धान्त के आधार पर विश्व प्रणाली की पद सोपान के बारे में तो बताया गया है, परन्तु इसमें परिवर्तन या बदलाव हेतु कुछ नहीं कहा गया। इसका अर्थ यह है कि यह सिद्धान्त मानकर चलता है कि राष्ट्र हमेशा इन दो श्रेणियों में ही बंटे रहेंगे। इसके अतिरिक्त राष्ट्रों को इसी स्वरूप में अनन्त मान लिया गया है तथा यह मानकर चला गया है कि यह निरन्तरता जारी रहेगी। परन्तु वास्तविकता इसके बिल्कुल भिन्न है। विश्व परिवर्तनशील व गतिमान है। अतः इस सिद्धान्त को विश्व प्रणाली में बदलाव के तरीकों एवं इसके परिवर्तित स्वरूप की स्थिति के बारे में कुछ आंकलन अवश्य करना चाहिए था।

(iv) इस सिद्धान्त के आधार पर माना गया है कि परिधि वाले विकासशील देशों को पूंजीवाद का लाभांश नहीं मिला तथा वे विकास प्रक्रिया से वंचित रहे हैं। परन्तु ऐसी सम्पूर्ण तीसरी दुनिया के देशों में नहीं हुआ। पूर्व एशिया व दक्षिण पूर्व एशियाई देशों में पूंजीवाद से अत्यन्त लाभ कमाया है। तथा 1997 से पूर्व दक्षिणपूर्वी एशियाई देशों को पूंजीगत विकास में एशियाई टाईगर माना जाता रहा है। इसी प्रकार कुछ अन्य तीसरी दुनिया के देश भी मध्य दर्जे की अर्थव्यवस्था व शक्ति के रूप में उभर कर सामने आये हैं।

(v) कुछ आलोचकों का मानना है कि निर्भरता के सिद्धान्त ने विकासशील देशों की व्यवस्थाओं को समझने के बहुत कम प्रयास किए हैं। उन्होंने उनके पिछड़ेपन के कारण का विश्लेषण करने से ज्यादा कम विकसित देशों को एक विचारधारा प्रदान करने की कोशिश की है। इस दृष्टिकोण का मुख्य केन्द्र विकसित राष्ट्र, उनसे सम्बद्ध बहुराष्ट्रीय कम्पनियों एवं राष्ट्रोपरि कम्पनियों की आलोचना रहा है। परन्तु वास्तव में इन कारकों के साथ विकासशील देशों की आन्तरिक कमजोरियों, वहां के नेतृत्व द्वारा की गई फिजूलखर्ची, योजनाओं का गलत प्रारूप एवं लागू करना आदि भी उनकी वर्तमान स्थिति हेतु समान भागीदार रहे हैं।

(vi) इस दृष्टिकोण पर यह भी आरोप लगाया है कि इसके माध्यम से समस्याओं का अत्याधिक सरलीकरण कर दिया गया है। सैद्धान्तिक रूप से अति आधुनिकतम पद्धतियों व तरीकों की खोज करने की बजाए मोटे तौर पर वृहत निष्कर्ष निकाल कर सैद्धान्तिक बारीकियों की खोज का मार्ग अवरूद्ध किया है। व्यावहारिक स्तर पर समस्याओं की गम्भीरता, गहन विश्लेषण व क्रमबद्ध अध्ययन का स्थान सरलीकरण ने ले लिया है। अतः कई आलोचक इस सिद्धान्त के सैद्धान्तिक एवं व्यवहारिक योगदान को विकासशील राष्ट्रों की समस्याओं के समाधान हेतु महत्वपूर्ण नहीं मानते हैं।

### 6.6 उपयोगिता

उपरोक्त आलोचनाओं के बावजूद इस सिद्धान्त की उपयोगिता को भी नकारा नहीं जा सकता जो निम्नलिखित हैं–

(i) द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद एशिया, अफ्रीका व लैटिन अमेरिका के नव–स्वतन्त्र राष्ट्रों के उदय से अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में आधार भूत परिवर्तन आए। उन्हीं परिवर्तनों का आंकलन करने हेतु कई सिद्धान्तों का प्रतिपादन

भी हुआ जिनमें से मुख्य रहे–यथार्थवाद, अंतर्राष्ट्रीय प्रणाली, खेल, सौदेबाजी, संचार आदि। परन्तु इन सभी सिद्धान्तों ने विश्व व्यवस्था में यथास्थिति का अध्ययन मात्र किया है। इसके अतिरिक्त इन सिद्धान्तों की उत्पति पाश्चात्य विद्वानों के पूर्व निर्धारित मनः स्थिति का प्रतीक भी रही। परन्तु यह पहला सिद्धान्त था जो यथास्थिति की बजाए बदलाव की बात करने लगा। इसके अतिरिक्त, इसके माध्यम से विकासशील राष्ट्रों के शोषण की समस्या पर गहन मंथन किया गया। परिधि वाले राष्ट्रों, को केन्द्र बिन्दु मानकर इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया।

(ii) इस सिद्धान्त से पूर्व सभी सिद्धान्त राजनैतिक ढांचों के अध्ययन पर बल देने वाले रहे हैं। इस सिद्धान्त के माध्यम से पहली बार आर्थिक कारकों के महत्व को केन्द्र बिन्दु माना है। आर्थिक तत्व को महत्वपूर्ण मानने के साथ–साथ इसने राजनैतिक व आर्थिक कारकों के सम्बन्धों एवं उनके प्रभावों का गहन विश्लेषण किया है। पहली बार इस सिद्धान्त के माध्यम से सतही कारणों की बजाए परिधि राष्ट्रों के पिछड़ेपन की समस्या का गहन अध्ययन करने का प्रयास किया। इस सिद्धान्त के माध्यम से विभिन्न श्रेणी के राष्ट्रों के बीच ऐतिहासिक संबंध एवं वर्तमान परिप्रेक्ष्य में उत्पादन नव–उपनिवेशवाद की समस्याओं को समझने का प्रयास किया गया। अतः यह सिद्धान्त इन नव–स्वतन्त्र राष्ट्रों की स्थिति की सत्यता के अधिक निकट प्रतीत होता है।

## 6.7 सारांश

अतः निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि निर्भरता के सिद्धान्त के माध्यम से केन्द्र (विकसित) एवं परिधि (विकासशील) राष्ट्रों के संबंधों के माध्यम से विश्व व्यवस्था के परिवर्तित स्वरूप को अध्ययन करने का प्रयास किया गया है। इस सिद्धान्त के माध्यम से वर्तमान व ऐतिहासिक संदर्भों में समन्वय पैदा करने के साथ–साथ पूंजीवाद के परिणामस्वरूप राष्ट्रों के संबंधों को समझने के उचित प्रयास किये गये हैं। यद्यपि विभिन्न विद्वानों के विचारों में भिन्नता अवश्य है, परन्तु आर्थिक कारक या पूंजीवाद के अंतर्राष्ट्रीय राजनीति को समझने में महत्व प्रदान करने पर मुख्य तौर पर आम सहमति नजर आती है। लेकिन इस सिद्धान्त के वृहत स्वरूप व व्यष्टिपूर्वक अध्ययन से इस सिद्धान्त में कई सैद्धान्तिक व व्यावहारिक कमियां स्पष्ट झलकती हैं। परन्तु आवश्यकता इस सिद्धान्त को त्यागने की न होकर इसे और बारीकियों के साथ तराशने की है। केन्द्र व परिधि राष्ट्रों के बीच उत्पन्न वर्चस्व स्थापित करने व विकास अवरूद्ध होने की समस्याओं के गहन अध्ययनों से नए सामान्यीकरणों के स्थापित करने की अति शीघ्र आवश्यकता है।

## 6.8 प्रश्नावली

1. अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के निर्भरता के सिद्धान्त का आलोचनात्मक वर्णन कीजिए।
2. वालरस्टेन के विश्व व्यवस्था सिद्धान्त का आलोचनात्मक वर्णन कीजिए।
3. निर्भरता के सिद्धान्त की विशेषताएं बतलाते हुए, उसके गुण व दोषों का वर्णन कीजिए।
4. अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को सही रूप में समझने हेतु निर्भरता का सिद्धान्त अति महत्त्वपूर्ण है। टिप्पणी करें।

## 6.9 पाठन सामग्री

1. महेन्द्र कुमार, अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के सैद्धान्तिक पक्ष (आगरा, 1984)
2. हेंस जे. मारगेन्थाऊ, पॉलिटिक्स अमंग नेशंज (कलकत्ता, 1972)

3. पीटर कलवोसिरेसी, वर्ल्ड पॉलिटिक्स सिंस, 1945 (लन्दन, 1987)
4. नार्मन डी. पामर एवं होवर्ड डी पकिंज, इन्टरनेशनल रिलेसन्ज, (कलकत्ता, 1970)
5. जॉन बेलिस एवं स्टीव स्मीथ, सम्पा०, ग्लोबलाईजेसन ऑफ वर्ल्ड पॉलिटिक्स (न्ययार्क, 2002)
6. अनीकचटर्जी, इन्टरनेशनल रिलेसंज टूडे (दिल्ली, 2010)
7. रूमकी बासु, सम्पा०, इन्टरनेशनल पॉलिटिक्स : कन्सेपटस, थ्यौरिज एण्ड इश्यूज, (सेज, 2012)
8. क्रिस्टीयन रूसेमित एवं डंकन एनीडल, सम्पा०, दॉ ऑक्सफोर्ड हेंडबुक ऑफ इन्टरनेशनल रिलेसंज, (ऑक्सफोर्ड यूनि. प्रैस, 2010)

अध्याय–7

# संघर्ष समाधान

## अध्याय का ढ़ांचा

7.1 प्रस्तावना

7.1.1 अध्याय के उद्देश्य

7.2 संघर्षो के प्रकार

7.2.1 संतुलित उद्देश्यों हेतु संघर्ष

7.2.2 वर्चस्व स्थापना के उद्देश्यों हेतु संघर्ष

7.3 समाधान के तरीके

7.3.1 शान्तिपूर्ण तरीके

7.3.1.1 राजनयिक व राजनैतिक तरीके

7.3.1.1.1 वार्ताए

7.3.1.1.2 सत्सेवा

7.3.1.1.3 मध्यस्थता

7.3.1.1.4 जांच आयोग

7.3.1.1.5 संराधन

7.3.1.2 न्यायिक तरीके

7.3.1.2.1 पंचनिर्णय

7.3.1.2.2 न्यायिक अभिनिर्णय

7.3.2 दण्डात्मक, परन्तु युद्ध रहित तरीके

7.3.2.1 संबंध विच्छेद

7.3.2.2 अधिरोध

7.3.2.3 प्रत्यपहार

7.3.2.4 प्रतिकर्म

7.3.3 युद्ध के द्वारा

7.3.3.1 सीमित युद्ध

7.3.3.2 सम्पूर्ण युद्ध

7.4 सारांश

7.5 प्रश्नावली

7.6 पाठन सामग्री

---

### 7.1 प्रस्तावना

यथार्थवादियों का मानना है कि अंतर्राष्ट्रीय राजनीति राज्यों के मध्य शक्ति हेतु संघर्ष है। अन्य विद्वानों का भी मत है कि अंतर्राष्ट्रीय राजनीति विभिन्न राज्यों के अंतर्गत होने वाली प्रक्रियाओं का रूप होती है। परन्तु सभी राज्यों के राष्ट्रीय हित समान नहीं होते अतः राज्यों के मध्य संघर्ष अनिवार्य बन जाता है। संघर्षों का स्वरूप, विषय क्षेत्र व क्षमता विभिन्न हो सकती है। शायद इसी कारण संघर्षों के समाधान के बारे में जानने से पूर्व संघर्षों के स्वरूप व प्रकार के बारे में संक्षिप्त जानकारी भी अति आवश्यक हो जाती है।

#### 7.1.1 अध्याय के उद्देश्य

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में राज्यों के बीच संघर्ष एवं सहयोग दोनों पाये जाते है। इस अध्याय में मुख्य रूप में राज्यों के बीच होने वाले संघर्षों के प्रकार एवं उनके समाधान के तरीकों का विस्तृत वर्णन प्रस्तुत है। इस अध्याय में शान्तिपूर्ण तरीको, दण्डात्मक कार्यवाही एवं युद्ध के माध्यम से संघर्षों के निदान के बारे में स्पष्ट रूप से बताया गया है। इसके साथ–साथ सभी तरीको की उपयोगिता एवं प्रासांगिकता का ज्ञान भी निहित है।

### 7.2 संघर्ष के प्रकार

सामान्य रूप से संघर्षों को दो भागों में ही बांटा जा सकता है – अहिंसात्मक व हिंसात्मक। देखने से यह प्रतीत होता है कि इस वर्गीकरण के आधार पर संघर्षों के स्वरूप को समझना बहुत आसान है। परन्तु आज के वर्तमान सन्दर्भ में सैन्य साधनों के अति आधुनिकतम शस्त्रों की उत्पति के कारण यह पता लगाना इतना सरल नहीं है कि अमुक संघर्ष हिंसात्मक है या अहिंसात्मक। कई बार हिंसात्मक प्रवृतियों का दिखाना मात्र करके राष्ट्र अपने हितों की पूर्ति कर लेते हैं। अतः संघर्ष के बारे में जानकारी हेतु उनके हितों का विस्तृत ज्ञान अनिवार्य बन जाता है। इसीलिए कई लेखक विश्लेषणात्मक दृष्टि से संघर्षो को निम्नलिखित दो प्रमुख श्रेणियों में बांट देते हैं –

#### 7.2.1 संतुलित उद्देश्यों हेतु संघर्ष

(i) अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के बदलाव के दौर की स्थिति में शक्ति विभाजित रहती है तथा अस्थिरता बनी रहती है। ऐसे में राज्यों के पास केवल सीमित विकल्प ही रह जाते हैं। अतः आपकी संघर्षो की स्थिति में केवल संतुलन के उद्देश्य प्राप्ति हेतु ही प्रयास करता है। उन संघर्षों को संतुलित–उद्देश्यों हेतु संघर्ष कहते हैं। इस श्रेणी में निम्न प्रकार के संघर्षों को सम्मिलित किया जा सकता है।

(क) विस्तारवादी नीतियां

(ख) परिवर्तनशीलता बनाम यथास्थिति

(ग) राष्ट्रवाद हेतु संघर्ष

(घ) ऐतिहासिक अनुभवों पर आधारित संघर्ष

(ड.) जातिवादी संघर्ष

(च) धार्मिकता हेतु संघर्ष

(छ) सामाजिक व सांस्कृतिक संघर्ष

### 7.2.2 वर्चस्व स्थापना के उद्देश्यों हेतु संघर्ष

शीतकालीन युग में संघर्ष पूर्व सोवियत संघ एवं अमेरिका के मध्य संघर्षात्मक द्वंद्व का पर्यायवाची बन गया था। दोनों के बीच संघर्ष शस्त्रों की होड़, सैन्य क्षमता का विकास, सैन्य अड्डों की स्थापना, कच्चे माल पर नियंत्रण, सहयोगियों की निरन्तर तलाश आदि पर आधारित बन गया था। इसके परिणामस्वरूप दोनों ही मनोवैज्ञानिक रूप से एक दूसरे पर वर्चस्व स्थापित करने की होड़ में लगे रहते थे। इस प्रकार के संघर्ष में राज्य अपनी शक्ति विस्तार के साथ–साथ समूह को संगठित करने तथा उसे और प्रतियोगिक बनाने की होड़ में लीन हो गया। इस प्रकार से विश्व पूर्ण रूप से वैचारिक रूप में दो गुटों में बंट गया। इस प्रकार के संघर्ष को वर्चस्व स्थापना हेतु संघर्ष कहा जा सकता है। इस प्रकार के संघर्ष हेतु लम्बी दूरी की योजनाएं बनानी पड़ती हैं तथा यह निरंतर चलती रहती हैं। इसके अतिरिक्त, दोनों, के बीच इस स्थिति में सम्पूर्ण युद्ध की सम्भावनाएं भी अत्यधिक रूप से व्याप्त रहती हैं।

संघर्षों को प्रारम्भ करना तो आसान होता है, लेकिन उनको लम्बे समय तक जारी रखना अति कठिन होता है। अतः प्रत्येक राष्ट्र संघर्षो से बचना चाहते हैं। परन्तु एक बार संघर्ष प्रारंभ होने पर चार विकल्पों के माध्यम से ही उनसे बचा जा सकता है। (क) प्रथम, यदि राष्ट्र अपने उद्देश्य की प्राप्ति में सफल हो जाता है; (ख) द्वितीय, वार्ता के माध्यम से ऐसे समझौते पर पहुंच जाते हैं जो चाहे पूर्ण संतुष्टि तो नहीं परन्तु आवश्यक संतुष्टि अवश्य प्रदान करें; (ग) तृतीय, अनिर्णायक स्थिति में किसी संघर्ष को छोड़ देना; तथा (घ) पूर्ण हार की स्थिति में। पहली व चौथी स्थिति से तो यह स्पष्ट हो या लागत। हानि का अंकलन कर लिया हो। दूसरी स्थिति अति उत्तम होती है परन्तु यह तभी संभव है जब दोनों प्रतिद्वंद्वी समझौता करना चाहते हों तथा अपनी न्यूनतम उपलब्धि के संदर्भ में समान विचार रखते हों। अनिर्णयातक स्थिति जब आती है जब दोनों प्रतिभागी अड़ियल हो व लाभ–हानि अनिशचित हो। इस प्रकार के संघर्ष बिना किसी दिखावे के टूट जाते हैं।

अंतर्राष्ट्रीय संबंधों में संघर्ष की स्थिति राज्यों द्वारा उनके समाधान के विभिन्न साधनों व तकनीकों के खोजने पर बल देती है। परन्तु इन साधनों की खोज व उनकी सफलता संघर्ष के उद्देश्यों, स्वरूप एवं विरोधी पार्टियों के हितों पर निर्भर करती है। इसके अतिरिक्त, यह भी सत्य है कि सभी संघर्षो के समाधान हेतु विभिन्न तरीकों की आवश्यकता नहीं होती, अपितु कई बार संघर्ष केवल अपने आप पर छोड़ देने पर भी सुलझ जाते हैं। लेकिन कई बार भावनात्मक स्वरूप अति तीव्र रूप धारण कर लेता है तब विवादों का औपचारिक हल ढूंढना आवश्यक हो जाता है। कई बार उन विवादों का हल भी आसानी से प्राप्त नहीं किया जा सकता जिनके साथ राज्य अपने आत्म–सम्मान को जोड़ लेते हैं।

## 7.3 समाधान के तरीके

### 7.3.1 शांतिपूर्ण तरीके

शांतिपूर्ण तरीकों के अंतर्गत हिंसा को त्याग कर विभिन्न पद्धतियों के माध्यम से समस्याओं का समाधान सम्भव है। सामान्य रूप से शांतिपूर्ण तरीकों को भी आगे दो भागों में बांटा जा सकता है–

#### 7.3.1.1 राजनयिक व राजनैतिक तरीके

राजनयिक व राजनैतिक निर्णय अन्तिम नहीं होते हैं इसीलिए इन्हें कई बार अनिर्णय व लागू नहीं होने वाले भी कहा जाता है। इनके अंतर्गत समाधान मुख्यतः अहम समझौतों तथा परस्पर सहमति पर अधिक आधारित होते हैं राजनैतिक निर्णय पर्यावरण सम्बन्धित कारकों व मूल्यों पर भी काफी हद तक निर्भर करते हैं। इसके अतिरिक्त, ये

राजनैतिक प्रक्रियाओं से भी प्रभावित होते है। इस पद्धति से विवादों को निम्न रूप से सुलझाया जा सकता है।

#### 7.3.1.1.1 वार्ताए

राज्यों के बीच वाताओं के माध्यम से सबसे सरल तरीके से विवादों का शान्तिपूर्ण हल सम्भव हो सकता है। इस प्रकार की वार्ताएं द्वि–पक्षीय या बहुपक्षीय दोनों ही प्रकार की हो सकती हैं। इस प्रकार की वार्ताएं राज्याध्यक्षों के मध्य वर्तमान समय व्यक्तिपरक राज्य अथवा सम्मेलनों के राजनय के माध्यम से भी हो सकती है। इसके अतिरिक्त, ये वार्ताएं इस उद्देश्य हेतु नियुक्त राजनयिकों अथवा किसी विशेष दूत के माध्यम से भी हो सकती है। कई बार राज्यों के बीच विभिन्न अंतर्राष्ट्रीय शिखर सम्मेलनों के समय भी वार्ताएं करना सम्भव है। अतः यह मध्य तरीका स्पष्ट एवं अति सरल है। परन्तु यह पद्धति उसी परिस्थिति में सम्भव हो सकती है जहां पर राज्यों के मध्य न्यूनतम स्तर की विश्वसनीयता बनी हुई हो। यदि राज्यों के मध्य आपसी विश्वास नहीं होगा तो इस कार्यवाही को आगे नहीं बढ़ाया जा सकता। ऐसी स्थिति में पहले राज्यों के मध्य विश्वसनीयता बढ़ाने वाले कदमों को उठाना पड़ता है तब वार्ताओं के प्रारम्भ होने की पृष्टभूमि तैयार की जाती है।

#### 7.3.1.1.2 सत्सेवा

इस माध्यम से सह–राजनयिक रूप से तीसरे प्रतिभागी के हस्तक्षेप से समस्याओं को सुलझाना होता है। यह तीसरा प्रतिभागी कोई प्रमुख व्यक्ति, मित्र राज्य अथवा अंतर्राष्ट्रीय संगठन हो सकता है। जब भी दोनों संघर्षरत राज्यों के बीच गतिरोध पैदा हो जाता है उस स्थिति में इसका अकसर प्रयोग किया जाता रहता है। इस अवसर पर गतिरोध दूर करने हेतु तीसरा राज्य अपनी सेवाएं प्रस्तुत करता है। यद्यपि इस प्रकार की बातचीत तीसरे के सहयोग से प्रारम्भ होती है, तथापि तीसरा प्रतिभागी न तो कोई सुझाव प्रस्तुत करता तथा न ही उनकी सीधी वार्ताओं में भाग लेता है। यदि एक बार सत्सेवा को स्वीकार कर लिया जाता है तो अकसर वह मध्यस्थ के रूप में भी बदल जाता है। इस प्रकार से कई महत्वपूर्ण संघर्षो का हल इस माध्यम द्वारा संभव हुआ है। उदाहरणस्वरूप, 1966 का भारत–पाक के मध्य ताशकन्द समझौता भूतपूर्व सोवियत संघ की सत्सेवा का परिणाम था।

#### 7.3.1.1.3 मध्यस्थता

यह सत्सेवा का ही विस्तृत रूप है। इसके अंतर्गत कोई तृतीय प्रतिभागी हस्तक्षेप करके संघर्ष के समाधान हेतु कार्य करता है। यह कार्य कोई प्रमुख व्यक्तित्व, संस्थान अथवा अंतर्राष्ट्रीय संगठन हो सकता है। परन्तु यह सत्सेवा से इसलिए भिन्न है कि यहां यह तीसरा व्यक्ति या संस्थान सत्सेवा की भांति तटस्थ न रहकर सक्रिय भूमिका निभाता है। यह दोनों राष्ट्रों की समस्या के समाधान हेतु सुझाव भी देता है। यह दोनों विरोधियों के मध्य सद्भावना पैदा कर उनमें समन्वय पैदा करके समस्या के हल हेतु प्रयास करता है। यद्यपि मध्यस्थ अपने हलों को जबरदस्ती से उन पर थोंपना नहीं है, तथापि यह मजबूत पहल के माध्यम से उन्हें उचित समाधान सुझाता है। उदाहरण स्वरूप डॉ. राल्फ बंचे ने 1948 में अरब–इजराईल संघर्ष के समय संयुक्त राष्ट्र के मध्यस्थ के रूप में सकारात्मक भूमिका निभाई।

#### 7.3.1.1.4 जांच आयोग

कई बार जांच आयोग की स्थापना के माध्यम से भी विवादों के शान्तिपूर्ण समाधान की कोशिश की जाती है। अकसर इस प्रकार के आयोग में विवादस्पद दोनों दलों से बराबर–बराबर सदस्यों को शामिल करके तीसरे राज्य/राज्यों से एक या अधिक सदस्यों को शामिल करके समाधान करने के प्रयास किए जाते हैं। संयुक्त राष्ट्र के चार्टर के अनुच्छेद 33 में भी यह प्रावधान है कि स्थिति उत्पन्न होने पर संयुक्त राष्ट्र को इस प्रकार के गठन का अधिकार है।

जांच आयोग मुख्य रूप से घटना से जुड़े मुद्दों का वस्तुनिष्ठ स्वरूप प्रस्तुत करके तथ्यों को स्पष्ट रूप से उजागर करता है। यह प्रक्रिया मुख्य रूप से दो मूल मान्यताओं पर आधारित है– प्रथम, राष्ट्रों के मध्य विवाद की मुख्य जड़ कुछ तथ्यों पर दोनों प्रतिभागियों की सहमति का न होना होता है। द्वितीय, इस कमी को भावनात्मक तुल मिलने के कारण दोनों दल सिद्धान्त पर एकमत नहीं होते। उदाहरण के रूप में 1905 में इंग्लैड रूस के बीच रूस द्वारा उत्तरी समुद्र में अंग्रेजी मछुवारों पर गोलियां चलाने का विवाद जांच आयोग की रिपोर्ट आने पर तुरन्त सुलझ गया।

### 7.3.1.1.5 संराधन

इस प्रक्रिया के अंतर्गत जांच व मध्यस्थ की प्रणालियों का मिश्रित रूप देखने को मिलता है। यह भूमिका किसी व्यक्ति या आयोग द्वारा पूर्ण की जाती है। अतः इसका मुख्य कार्य तथ्यों को निर्धारित करना तथा औपचारिक रूप से विवाद के समाधान हेतु अपना प्रतिवेदन प्रस्तुत करना है। यह प्रक्रियां अपने आप में उचित इसलिए होती है क्योंकि जांच आयोग विवाद को हल करने में केवल नाममात्र भूमिका निभाते हैं। इस प्रक्रिया के माध्यम से विवादों को सुलझाने के शांतिपूर्ण मध्यस्थ एवं जांच का प्रभाव अधिक बढ़ जाता है। यह राजनयिक व राजनैतिक तरीकों में शांति स्थापित करने का सबसे औपचारिक तरीका है। यह विशेषकर गम्भीर विवादों के संदर्भ में अति महत्वपूर्ण है क्योंकि यह तरीका न्यायिक व विधानीय प्रक्रिया से अधिक लचीला होता है। इसका उद्देश्य हमेशा समझौते के आधार पर शान्ति स्थापित करना है, न कि कानून द्वारा न्याय स्थापित करना। संयुक्त राष्ट्र संघ ने 1945 के बाद ऐसे कई आयोगों का गठन किया है।

लेकिन यहां इतना स्पष्ट कर देना भी अति आवश्यक है कि इस तरीके द्वारा भी संघर्ष का समाधान तब तक सम्भव नहीं हो सकता जब तक वह दोनों विवादग्रस्त दलों को स्वीकार्य न हो। आमतौर पर दोनों दलों की स्वीकृति प्राप्त करने हेतु इस माध्यम से जो सुझाव दिए जाते हैं उसके माध्यम से यह स्पष्ट करने की कोशिश की जाती है कि अमुक सुझाव को मानने से प्रत्येक प्रतिभागी को अत्यधिक लाभ प्राप्त होगा।

इस प्रकार उपरोक्त राजनयिक व राजनैतिक तरीकों के माध्यम से संघर्षों को शान्तिपूर्ण रूप से हल करने के प्रयास किए जाते हैं।

### 7.3.1.2 न्यायिक तरीके

कानून तरीकों क माध्यम से विवादों को विभिन्न प्रक्रिया व शर्तो के आधार पर हल करने के प्रयास पर बल दिया जाता है। यहाँ पर निर्णय केवल कानूनी पहलुओं के तहत किए जाते हैं, अतः राजनैतिक समझौतों का इसमें कोई स्थान नहीं होता। इसमें अधिकरणों एवं अंतर्राष्ट्रीय न्यायालयों द्वारा दिए गए निर्णय संघर्षरत प्रतिभागियों को मान्य होंगे, इसीलिए इन्हें बाध्यकारी कहा जाता है। इस प्रकार के निर्णय किसी तदर्थ अधिकारणों अथवा स्थाई न्यायालय द्वारा दिए जाते हैं। स्थाई न्यायालय में अंतर्राष्ट्रीय न्यायालय की भूमिका अति महत्वपूर्ण होती है। परन्तु यह भी सत्य है कि सामान्यतया कुछ विशेष संदर्भों को छोड़कर न्यायपालिका में इन संघर्षों को ले जाना राष्ट्रों की अपनी इच्छा पर निर्भर करता है।

न्यायिक निर्णयों से हल किए गए विवादों राजनयिक आधार पर सामान्य विवादों के कई सन्दर्भ में अधिक लाभदायक होते हैं। सर्वप्रथम, इन तरीकों से सम्पूर्ण विवाद को न्यायालय अपने हाथ में ले लेती है। तथा इस प्रकार समग्र विवाद प्रतिभागियों के हाथों से दूर होने के कारण उनकी अपनी प्रतिष्ठा से प्रश्न से जुड़े नहीं रह जाते। अतः समाधान में कोई रूकावटें नहीं आती। द्वितीय, इनके द्वारा समाधान दोनों प्रतिभागियों या अन्य राष्ट्रों द्वारा स्थापित मानकों के आधार पर किया जायेगा। तृतीय, राजनयिक तरीकों की तुलना में इस पद्धति से समाधान अत्याधिक राजनीति से तटस्थ होगा, क्योंकि इसके अंतर्गत दोनों प्रतिभागी किसी भी प्रकार की निर्णय लेने की प्रक्रिया से

स्वेच्छा से पहले ही अलग हो चुके होते हैं।

जहां एक ओर न्यायिक निर्णय पद्धति के लाभ है, वहीं इसके नुकसान भी हैं। प्रथम, बहुत कम ऐसे राजनैतिक विवाद हुए हैं जिनका हल न्यायिक तरीकों से सम्भव हो सका है। द्वितीय, जितना भी कोई संघर्ष किसी भी राष्ट्र के लिए अधिक महत्वपूर्ण होगा उतना ही वह राष्ट्र चाहेगा कि इस विवाद को वह किसी तीसरे पक्ष के हाथ में न जाने दे।

उपरोक्त लाभ व हानियों के बावजूद भी निम्न तरीकों से न्यायिक आधार पर विवादों का समाधान सम्भव है –

### 7.3.1.2.1 पंचनिर्णय

पंच निर्णय की प्रक्रिया अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में प्राचीन काल से ही चली आ रही है। इसका अर्थ है कि राज्यों के मतभेद का समाधान कानूनी निर्णयों द्वारा ही किया जाना चाहिए। यह निर्णय दोनों पक्षों द्वारा निर्वाचित एक या अनेक पंचों के न्यायाधिकरण द्वारा होना चाहिए जो अंतर्राष्ट्रीय न्यायालय से भिन्न हों। इसका कार्य या तो किसी ऐसे राज्याध्यक्ष को सौंपा जा सकता है जो गैर न्यायिक अथवा कानून की जानकारी न रखने वाला व्यक्ति है या किसी न्यायाधिकरण का व्यक्ति हो। दो या अधिक राज्य भी पंच निर्णय की एक सामान्य सन्धि कर सकते हैं जिसके अनुसार उनके सभी या कुछ प्रकार के विवाद पंच फैसलों हेतु सौंपे जा सके।

इस संदर्भ में 1899 में प्रथम हेग सम्मेलन के समय पंच निर्णय के स्थाई न्यायालय की स्थापना की गई। तभी से लेकर यह न्यायालय अंतर्राष्ट्रीय पंच निर्णय का प्रमुख यंत्र बन गया। सामान्य रूप से इस न्यायालय में जाना राष्ट्रों की स्वेच्छा पर निर्भर करता है। परन्तु एक बार अपने विवादों को इन्हें सौंपने के बाद पंचनिर्णय उन राष्ट्रों पर बाध्यकारी होगा। सामान्यतया पंच निर्णय हेतु राष्ट्र दो–दो न्यायाधीश अपनी मर्जी से चुनते हैं तथा बाद में ये चारों न्यायाधीश पांचवे न्यायाधीश (एम्पायर) का चयन खुद करते हैं। इन न्यायालयों द्वारा सामान्यतया निर्णय ऐसे प्रचलित सिद्धान्तों के आधार पर दिए जाते हैं जिन्हें विवादित राज्यों ने मान्यता प्रदान कर रखी हो।

### 7.3.1.2.2 न्यायिक अभिनिर्णय

न्यायिक अभिनिर्णय मूलतः संयुक्त राष्ट्र के अधीन अंतर्राष्ट्रीय न्यायालय (आई.सी.जे.) द्वारा दिये गए निर्णयों के माध्यम से विवादों को हल करने से हैं। यह न्यायालय 1945 में लीग के समय स्थापित पंच निर्णय के स्थाई न्यायालय का परिवर्तित रूप है। इस न्यायालय द्वारा दिए गए निर्णय समुचित प्रकार से गठित कानून के आधार पर लिए जाते हैं तथा वे निर्णय समानता व न्याय के सिद्धान्त पर आधारित होते हैं।

संयुक्त राष्ट्र के सभी सदस्य स्वतः ही अंतर्राष्ट्रीय न्यायालय के सदस्य भी होते हैं। परन्तु व्यवहारिक रूप में सदस्यों को बाध्यकारी रूप से अपने विवादों को न्यायालय के समक्ष ले जाना आवश्यक नहीं होता। इसके अतिरिक्त, यह भी व्यवस्था है कि गैर–सदस्य भी महासभा व सुरक्षा परिषद द्वारा लगाई गई शर्तो के अनुरूप अपने विवादों को अंतर्राष्ट्रीय न्यायालय में ले जा सकते हैं।

कई सदस्य जो अंतर्राष्ट्रीय न्यायालय के सुविधा को मानते है उन पर बिना किसी अलग समझौते के निम्नलिखित मामलों में अनिवार्य रूप से सभी कानूनी विवादों पर निर्णय मानना होगा – (i) संधि की व्याख्या के संदर्भ में, (ii) अंतर्राष्ट्रीय कानून के प्रश्न के मामले में, (iii) किसी तथ्य के स्थापित होने से जिससे अंतर्राष्ट्रीय कानून का उल्लंघन होता हो, तथा (iv) कानून के उल्लंघन से होने वाली हानि के संदर्भ में। राष्ट्र जो इस प्रकार के निर्णय को बाध्यकारी रूप से मानता है वह इसे बिना शर्त या परस्पर आपसी बदले के आधार पर किसी निश्चित अवधि तक मान सकता है।

इस प्रकार पंच निर्णय तथा न्यायिक आत्मनिर्णय के द्वारा विवादों को निपटाने की प्रक्रिया बड़ी सीमित होती

है। इस प्रकार के राज्यों के बीच विवादों के निपटारों को व्यक्तिगत निर्णयों से समाधान के समकक्ष नहीं माना जा सकता। जब यह व्यक्ति के विवादों के बारे में होता है जब यह कानून का गैर व्यक्तिपरक उपयोग होता है, परन्तु राज्यों के संदर्भ में ऐसा अंतर्राष्ट्रीय स्वरूप के कारण सम्भव नहीं है। इसलिए राज्यों के विवादों में कानून का प्रभाव हाशिए पर होता है तथा उसका विवादों के हल करने में बहुत सीमित प्रभाव होता है।

### 7.3.2 दण्डात्मक, परन्तु युद्ध रहित तरीके

जब शांतिपूर्ण तरीकों से समस्या का समाधान नहीं हो तब राज्य दण्डात्मक, परन्तु अहिंसक, कार्यवाही का सहारा लेते हैं। इस प्रकार की ज्यादातर कार्यवाही राजनयिक तरीकों से प्रस्तावित होती है, परन्तु उनका अन्ततः दण्डात्मक मनोवैज्ञानिक प्रभाव पड़ता है। सामान्यतया प्रमुख अहिंसात्मक कदमों में प्रमुख हैं – अपने देश के राजनयिकों को वापिस बुलाना, दूसरे देश के राजनयिकों को देश छोड़ने हेतु कहना, राज्य को मान्यता प्रदान न करना, राजनयिक संबंध विच्छेद, सन्धि समाप्त करना आदि। परन्तु इनसे भी प्रमुख निम्न तरीके वास्तव में युद्ध रहित दण्डात्मक कार्यवाही हेतु प्रयुक्त होते हैं–

#### 7.3.2.1 संबंध विच्छेद

कई बार राष्ट्र की गतिविधियों के दण्ड स्वरूप किसी राज्य से संबंध तोड़ लेना भी दण्डात्मक प्रक्रिया होती है। इस संदर्भ एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र से अपना लेन–देन समाप्त कर लेता है। वह उस राष्ट्र से वस्तुओं का आदान–प्रदान भी नहीं रखता। इस प्रकार की कार्यवाही से आर्थिक नुकसान से ज्यादा मनोवैज्ञानिक दबाव अधिक बढ़ जाता है। कई बार इस कारण वहां के नागरिकों की समस्या या राजनैतिक कठिनाई भी उत्पन्न हो जाती है। ऐसी स्थिति में यह कदम सामान्य अहिंसात्मक कार्यवाही की बजाय दण्डात्मक स्वरूप धारण कर लेती है।

#### 7.3.2.2 अधिरोध

इसके अंतर्गत मुख्यतयः दूसरे देशों की जहाजों को अपनी बन्दरगाहों पर रोकना है। जब एक राष्ट्र बदले की भावना स्वरूप दूसरे राष्ट्र के जहाजों को अपनी बन्दरगाहों में प्रवेश या निष्कासन पर मनाही करता है तो वह अधिरोध की कार्यवाही होती है। कई बार राष्ट्र इसके उल्लंघन करने वाले राष्ट्र से क्षतिपूर्ति की मांग भी करता है। परन्तु इस प्रकार जहाजों का रोकना क्षतिपूर्ति के बाद समाप्त हो जाता है।

#### 7.3.2.3 प्रत्यपहार

प्रत्यपहार के द्वारा एक राज्य दूसरे राज्य के विरूद्ध प्रतीकात्मक कार्यवाही करता है जिसके अंतर्गत किसी राष्ट्र के माल का बहिष्कार, नौसैनिक प्रदर्शन, गोलाबारी, पोतावरोध आदि सम्मिलित होते है। परन्तु यह प्रक्रिया तभी न्योचित होती है यदि जिसके विरूद्ध कार्यवाही कई गई है वह राष्ट्र अंतर्राष्ट्रीय कानून का दोषी पाया जाए। इसकी मात्रा का निर्णय प्रभावित राज्य की हानि के अनुसार निश्चित होती है। अतः वर्तमान समय में विवादों को सुलझाने हेतु अपनाये गये बाध्यकारी प्रयासों से अन्य राज्य के अन्यायपूर्ण आचरण को प्रभावित करना है। यद्यपि संयुक्त राष्ट्र के चार्टर के अनुसार प्रत्यपहार का प्रयोग गैर–कानूनी है, तथापि कतिपय अंतर्राष्ट्रीय कानून के विशेषज्ञ कुछ परिस्थितियों में इसे वैध ठहराते हैं।

#### 7.3.2.4 प्रतिकर्म

एक राष्ट्र के अभद्र व्यवहार की प्रतिक्रिया स्वरूप दूसरे राष्ट्र द्वारा भी उसी प्रकार का व्यवहार किया जाना प्रतिकर्म है। तकनीकी रूप से इसे मात्र बदला नहीं कह सकते, बल्कि यह उससे कुछ अलग है। यह एक राष्ट्र की दूसरे के प्रति अमैत्रीपूर्ण कार्यवाही अवश्य है, परन्तु इसे युद्ध की कार्यवाही हरगिज़ नहीं माना जा सकता। इसके अतिरिक्त, यह बाध्यकारी तरीका होते हुए भी दूसरे राष्ट्र हो हानि पहुंचाने वाली कार्यवाही नहीं माना जा सकता, क्योंकि जो

एक राष्ट्र करता है लगभग उसी प्रकार की कार्यवाही प्रत्युत्तर में की जाती है। उदाहरणस्वरूप, राजनयिकों को वापिस बुलाना, उन्हें देश से निष्कासित करना आदि।

इस प्रकार उपरोक्त उपायों के माध्यम से राष्ट्रों का हानि पहुंचाने या उसके डर से एक मनोवैज्ञानिक दबाव बनाकर बाध्यकारी स्थिति उत्पन्न की जाती है। इससे राज्यों पर दण्डात्मक कार्यवाही होती है, परन्तु वह युद्ध की सीमा पर नहीं करती। इसी प्रकार के प्रभावी दबावों से उन समस्याओं को हल किया जाता है जिन्हें शांतिपूर्ण तरीकों से हल करना सम्भव न हो।

### 7.3.3 युद्ध के द्वारा

अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में जब उपरोक्त दोनों प्रकार के तरीके विफल हो जाते हैं तब युद्ध के विकल्प का सहारा लिया जाता है। युद्ध के माध्यम से संघर्ष का निपटारा अंतिम होता है। इसका प्रत्युत्तर में कोई जवाब नहीं रहता। इसमें हिंसा का भरपूर प्रयोग होता है। परन्तु युद्ध के माध्यम से भी निम्न दो प्रकार से विवादों को हल किया जाता है –

### 7.3.3.1 सीमित युद्ध

वर्तमान समय में हथियारों के अति आधुनिकतम स्वरूप (परमाणु, जैविक व रासायनिक) विकसित होने के कारण जब राष्ट्र युद्धों को सीमित रखने के पक्षधर हैं। आज युद्धों का सार्वभोमिक स्वरूप (विश्वयुद्ध) उपलब्ध होने से भी "पूर्ण युद्ध" की कार्यवाही से राष्ट्र डरते हैं। परन्तु "संतुलित उद्देश्यों" हेतु संघर्षों के संदर्भ में ही सीमित युद्ध की कार्यवाही कारगर हो सकती है। "वर्चस्व स्थापित हेतु" संघर्षो में यह प्रणाली सफल नहीं हो सकती।

सीमित युद्ध की कार्यवाही राष्ट्रों द्वारा सीमित उद्देश्यों हेतु ही प्रयोग होती हैं इसमें राष्ट्र अपने साधनों (हथियारों) पर भी निश्चित अंकुश बर्तते हैं। इन युद्धों की भौगोलिक एवं संसाधनों के व्यय की दृष्टि से भी सीमित रखने का प्रयास किया जाता है। इसमें युद्ध के उद्देश्य की प्राप्ति के बाद उसे समाप्त कर दिया जाता है, शुत्र का पूर्ण विनाश इसका उद्देश्य नहीं होता। राष्ट्र इस प्रकार के युद्धों के माध्यम से वार्ताओं हेतु स्थान भी सुरक्षित रखते हैं ताकि अन्ततः समस्या का हल निकल सके। अतः इस प्रकार के युद्धों में राष्ट्र स्वयं पर स्वेच्छा से अंकुश लगाते हुए अपने उद्देश्य प्राप्ति की ओर अग्रसर होते हैं, शत्रु का विनाश करना उनका लक्ष्य नहीं होता। न ही इसके माध्यम से कोई बहुत बड़ा नुकसान पहुचाना होता है। हां युद्ध तब तक लड़ा जाता है जब तक निर्धारित उद्देश्य न प्राप्त हो जाए या राष्ट्र वार्ताओं के माध्यम से समझाया को हल करने पर राजी न हो जाए।

### 7.3.3.2 सम्पूर्ण युद्ध

बीसवीं शताब्दी में दो विश्व युद्धों ने युद्ध के स्वरूप को सीमित से सम्पूर्ण युद्ध में बदल दिया है। इसके अंतर्गत युद्ध की प्रक्रिया, विषय क्षेत्र व स्वरूप बिल्कुल परिवर्तित हो गए हैं। यद्यपि परमाणु रासायनिक व जैनिक हथियारों की उपलब्धता ने इसकी व्यावहारिकता पर अंकुश लगा दिए हैं, तथापि इसकी शुरूआत की सम्भावना बिल्कुल नहीं है ऐसा नहीं माना जा सकता। बल्कि यह सत्य है कि "वर्चस्व स्थापित हेतु उद्देश्यों" के सन्दर्भ में राष्ट्र अभी भी इस विकल्प की बात करते हैं। सामान्य तथा सम्पूर्ण युद्ध से होने वाले खतरों की दृष्टि में यह साधना प्रयोग में नहीं लाया जाता। इसके अतिरिक्त इससे दोनों प्रतिभागियों की समाप्ति का खतरा भी बना रहता है। इसमें हार–जीत भी निश्चित नहीं है। इसमें प्रयोग होने वाले हथियारों की समानता होना भी अनिवार्य नहीं होता। परन्तु फिर भी महाशक्तियों द्वारा इसके उपयोग की सम्भावनाओं को नहीं नकारा जा सकता। इस प्रकार के युद्ध में असीमित हिंसा का प्रयोग होता है। इसकी मूल मान्यता यह है कि जीत स्पष्ट रूप से तभी सम्भव होती है, अगर वह सम्पूर्ण है। इसीलिए इससे या तो सम्पूर्ण विनाश होगा या पूर्ण गुलामी। परन्तु इससे होने वाले परिणामों की गम्भीरता को देखते हुए राष्ट्र इस विकल्प के प्रयोग को उचित नहीं मानते। अतः इसका प्रयोग दुर्घटनावश या अराजकता की स्थिति में ही होने की सम्भावना रहती है।

## 7.4 सारांश

उपरोक्त विवरण से निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि राष्ट्रों के मध्य विभिन्न प्रकार के विवाद आज भी अस्तित्व में है। उन विवादों को निपटाने हेतु विभिन्न समाधान की पद्धतियां भी अपनाई गई हैं जिन्हें मुख्यतया तीन श्रेणियों—शांतिपूर्ण, युद्ध रहित दण्डात्मक एवं दण्डात्मक – तरीकों से हल किया जा सकता है। परन्तु इन तीन पद्धतियों में से मुख्य रूप से पहले दो पद्धतियों के अंतर्गत सम्मिलित तरीकों के माध्यम से ही हल करने की कोशिश की जाती रही है। तथा काफी हद तक इस बारे में सफलता भी प्राप्त हुई है। तीसरी पद्धति के तरीकों – युद्ध – को तो केवल अन्तिम विकल्प के रूप में ही अपनाया जाता है। इसके दुर्घटनावश प्रयोग की स्थिति पर भी अति शीघ्र नियंत्रण करने की कोशिश की जाती है। सामूहिक प्रयास से ही इसका प्रयोग व समाप्ति को बेहतर माना जाता है। अति आधुनिकतम हथियारों की उत्पति ने इस विकल्प को समाप्त प्रायः या कुछ स्थितियों तक ही सीमित कर दिया है।

## 7.5 प्रश्नावली

1. अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में राष्ट्रों के मध्य होने वाले संघर्षों के प्रकारों का वर्णन कीजिए।
2. अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में विवादों के समाधान के शान्तिपूर्ण तरीकों का आलोचनात्मक वर्णन कीजिए।
3. अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में विवादों को निपटाने हेतु दण्डात्मक कार्यवाही का विस्तारपूर्वक वर्णन करें।
4. अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में युद्ध के द्वारा विवादों के समाधान का आलोचनात्मक वर्णन करें।

## 7.6 पाठन सामग्री


1. महेन्द्र कुमार, अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के सैद्धान्तिक पक्ष (आगरा, 1984)
2. हेंस जे. मारगेन्थाऊ, पॉलिटिक्स अमंग नेशंज (कलकत्ता, 1972)
3. पीटर कलवोसिरेसी, वर्ल्ड पॉलिटिक्स सिंस, 1945 (लन्दन, 1987)
4. नार्मन डी. पामर एवं होवर्ड डी पकिंज, इन्टरनेशनल रिलेसन्ज, (कलकत्ता, 1970)
5. जॉन बेलिस एवं स्टीव स्मीथ, सम्पा०, ग्लोबलाईजेसन ऑफ वर्ल्ड पॉलिटिक्स (न्ययार्क, 2002)
6. अनीकचटर्जी, इन्टरनेशनल रिलेसंज टूडे (दिल्ली, 2010)
7. रूमकी बासु, सम्पा०, इन्टरनेशनल पॉलिटिक्स : कन्सेपटस, थ्यौरिज एण्ड इश्यूज, (सेज, 2012)
8. क्रिस्टीयन रूसेमित एवं डंकन एनीडल, सम्पा०, दॉ ऑक्सफोर्ड हेंडबुक ऑफ इन्टरनेशनल रिलेसंज, (ऑक्सफोर्ड यूनि. प्रैस, 2010)

अध्याय–8

# विश्व बैंक

## अध्याय का ढ़ांचा

अध्याय–9

# पर्यावरण की राजनीति

## अध्याय का ढ़ांचा